

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक
ए. अरविंदाक्षन

सह सम्पादक
कृष्ण कुमार सिंह, शंभु गुप्त



ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय हिंदी त्रैमासिक

अंक : 30 (जुलाई-सितंबर, 2011)

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादकीय कार्यालय

सम्पादक 'बहुवचन'

प्रतिकुलपति कार्यालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) भारत

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव

E-mail : bpsjnu@gmail.com फोन : 07152-232943, मो. 09272132803

© सम्बन्धित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार : दान सिंह नेगी

E-Mail : dansnegi@hindivishwa.org फोन : 07152-232943 मो. 09665145282

बिक्री और प्रसार कार्यालय

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-230901, फैक्स : 091-7152-230903 तार : हिन्दीविश्व

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम से इस पते पर भेजें (मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं)

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) भारत

पंजीयन सं. : DELHIN/2000/1228

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में :

हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

Published by: Mahatma Gandhi International Hindi University
Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra) India.

आवरण : अक्कित्तम नारायणन

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (9212796256)

अनुक्रम

संपादकीय / 05

जल, जंगल, जमीन और राजसत्ता

ज़रूरत है प्रोसपेरो-सिंड्रोम के अन्त की / 09
रामशरण जोशी

नवउदारवादी आदिम संचयन : सामाजिक संसाधनों की लूट / 19
कमल नयन काबरा

विस्थापन की समस्या / 30
हरिराम मीणा

क्या सोम्पेटा नंदीग्राम की राह बढ़ रहा है? / 41
पुष्पराज

भारतीय किसान और स्वामी सहजानंद सरस्वती / 50
प्रशांत खत्री

शांति एवं संघर्ष समाधान

अंतरधार्मिक संवाद : भारत की बहुरंगी संस्कृति / 59
राम पुनियानी (अनुवाद : पी.के. मंगलम)

हत्याएँ और हत्यारे / 66
एक सिरफिरे, सिख अंगरक्षकों, लिट्टे और कंधमाल के युवाओं के बारे में
बातचीत
मानस रंजन (अनुवाद : शंभू जोशी)

नाभिकीय विकल्प : नाभिकीय शस्त्र व ऊर्जा पर बहस / 73
संदीप पाण्डेय

वर्ग-विचार

उपभोक्ता संस्कृति तथा भारत में नया मध्य वर्ग / 83
नदीम हसनैन

स्मरण

राम शरण शर्मा ने बदली इतिहास की भूमिका / 89
सुरेश शर्मा

कविताएँ

पवन करण / 93
अर्पण कुमार / 105

कहानी

माएं / 111
एस आर हरनोट

संस्मरण

पचहत्तर बरस का जादू / 117
राजेन्द्र शर्मा

शताब्दी संदर्भ : फैज़ अहमद फैज़

फैज़-जमाल से जलाल तक (प्रेम से प्रतिरोध तक) / 120
अली अहमद फ़ातमी (अनुवाद : शाहनवाज़ आलम)

लाज़िम है कि हम भी देखेंगे / 134
प्रणय कृष्ण

लेखकों के पते / 143

सम्पादकीय

विकास को तभी समग्र कहा जा सकता है जब वह जनपक्षधर हो तथा पारदर्शी भी। जनतांत्रिक व्यवस्था में पारदर्शिता का सर्वाधिक महत्व है। समाज में स्थित हमारी जनतांत्रिक महत्वाकांक्षाओं के बावजूद इधर विकास के नाम पर जन विरोधी हरकतें देखने को मिल रही हैं। जाहिर है कि ऐसी हरकतों के मार्ग एवं लक्ष्य पारदर्शी नहीं हैं। समाज व्यवस्था की यह एक अवांछित समांतर व्यवस्था है जो स्पष्ट और अस्पष्ट रूप में हमारे दैनंदिन जीवन के अर्थ को नष्ट कर देती है। इसका सबसे ज्यादा नुकसान झेलना पड़ता है हाशियीकृत तबके के लोगों को। इस वजह से ही जनतंत्र पर सवालिया निशान पड़ जाते हैं। भूमि अधिग्रहण के मसले को इसी प्रकरण में देखना उचित है।

मइलम्मा नामक एक अनपढ़ महिला ने कुछ वर्ष पहले बहुराष्ट्रीय कंपनी द्वारा किये जाने वाले जल अधिग्रहण का साहसपूर्ण प्रतिरोध किया था। अपने गाँवों के कुओं के पानी का लगातार कम होते जाना उसकी दृष्टि में कोई प्रकृति की अवस्था नहीं थी। पेप्सी-कोला जैसी पेय वस्तुओं के लिए किये जाने वाले जल का वह अयाचित दुरुपयोग था। मइलम्मा ने इसे पहचान लिया और उसका विरोध करना शुरू किया। यह एक व्यक्ति का विरोध नहीं था। जनतांत्रिक व्यवस्था में निहित असामाजिक एवं सुरुचिहीन दृष्टि का प्रातिनिधिक विरोध था। इस कारण से धीरे-धीरे उस प्रतिरोध को अखिल भारतीय मान्यता मिली।

हमारे समाज में ऐसी अदूरदर्शी प्रवृत्तियों की आवृत्ति हो रही है। इनका प्रतिरोध आवश्यक है। 'बहुवचन' के इस अंक में 'जल, जंगल, जमीन और राजसत्ता' के अंतर्गत इन्हीं जनतंत्र विरोधी हरकतों के जमीनी यथार्थ का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। रामशरण जोशी लिखते हैं- "इतिहास पर दृष्टिपात करें तो १९४७ से पहले औपनिवेशिक शासकों ने भी भारत के लोगों को सभ्य बनाने (पुस्तक : *White Men's Burden*), भीतरी अंचलों (आदिवासी क्षेत्र) को राज्य के दायरे में लाने, कृषि समाज का रूपांतरण

करने और राजस्व का मुनाफा बढ़ाने की गरज से कई प्रकार के भूबंदोबस्त कानून लागू किये थे। लार्ड कार्नवालिस की भूबंदोबस्त योजना कुख्यात है। इस संदर्भ में तत्कालीन भूअधिग्रहण कानून, वन कानून आदि को देखा जा सकता है। १८वीं सदी से लेकर २०वीं सदी के मध्य तक विभिन्न समय में जल- जंगल-जमीन को लेकर हुए आदिवासी व किसान विद्रोह (संथाल विद्रोह, मुंडा विद्रोह भूमकाल, भील विद्रोह, तेभागा आंदोलन आदि) इसके उदाहरण हैं। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में भी इसकी गूंज सुनाई देती है। उत्तर-औपनिवेशिक भारत में भी इस संघर्ष की निरंतरता है। विगत ६४ वर्षों में भी देश के अधिकांश राज्य जल, जंगल, जमीन के संघर्ष से कम-अधिक प्रभावित रहे हैं। इस संदर्भ में आंध्रप्रदेश, बिहार, पं.बंगाल, झारखण्ड, म.प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, केरल, पंजाब, हरियाणा, उडिशा, कर्नाटक जैसे प्रदेशों में हुए आदिवासी व किसान आंदोलनों को याद किया जा सकता है।” इसके एक अन्य पहलू को कमल नयन काबरा ने उठाया है- “आजकल नवउदारवादी नीतियों के दो दशकों के फलस्वरूप भ्रष्टाचार, काली अर्थव्यवस्था, जन सरोकारों के विपरीत अपने-अपने खानदानों के क्षुद्र स्वार्थों के प्रसार और संरक्षण में तल्लीन राजनीति और राजकाज फिलहाल हमारी दुर्भाग्यमय नियति बन गये लगते हैं। इस दौरान बहुआयामी विषमताओं में इतना शर्मनाक इजाफा हुआ है और उसका मुख्य भाग कानून की नजर में और प्रशासनिक आंकड़ों और रिकार्डों में भूमिगत या गुप्त रहते हुए भी हमारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन के पग-पग पर पसरा पड़ा है। इसके दुष्परिणाम दशकों तक हमारा पीछा करते रहेंगे। देश की राज्य तथा अन्य शक्तियों पर राजनीति, प्रशासन तथा व्यवसाय के शीर्ष की तिकड़ी काबिज हो गयी। अतः हम जन-जन के पसीने, आंसुओं और खून सने अकूत सम्पत्ति-संग्रहण के कुछ खतरनाक आयामों की ओर ध्यान खींचना चाहेंगे। ये सब एक भयावह भविष्य की पदचाप सुना रहे हैं। हाँ, इस अंधेरे में कुछ जुगनुओं की चमक जरूर चमक और बुझ रही है।”

हमारे सामने सवाल है कि इन स्थितियों को किस तरह से पढ़ा या देखा जाए? इतना तय है कि इन्हें न सरलीकृत किया जा सकता है और न ही सरल ढंग से पढ़ा या देखा जा सकता है।

पत्रिका के इस अंक में ‘शांति एवं संघर्ष समाधान’ शीर्षक के अंतर्गत जनधर्मी मानस को झुलसा देने वाली स्थितियों का आकलन प्रस्तुत किया गया है। ‘नाभिकीय शस्त्र व ऊर्जा पर बहस’ पर संदीप पांडेय का लेख विशेष उल्लेखनीय है।

इस अंक में अन्य अनेक वैविध्यपूर्ण सामग्री हम दे रहे हैं। उम्मीद है कि पाठकों के चिंतन के क्षितिज को विस्तार देने में ‘बहुवचन’ की सामग्री सहायक होगी।

ए. अरविंदाक्षन



जल, जंगल, जमीन और राजसत्ता

जरूरत है प्रोसपेरो-सिंड्रोम के अंत की...!

रामशरण जोशी

I

आज करीब चालीस बरस बाद पीछे छूटे बस्तर को याद करता हूँ तो स्वयं को कई प्रकार की विसंगतियों, विरोधाभासों और अंतर्विरोधों से घिरा पाता हूँ। सच, पीछे मुड़कर विगत का पुनरावलोकन करना कभी सुखद भी होता है लेकिन दांतेवाड़ा जैसे आदिवासी अंचल के सन्दर्भ में दुखद अधिक लगता है, आज मैं सुविधा और विकास के महासागर में सुरक्षित आवासित हूँ लेकिन जब दांतेवाड़ा, झारखंड, गड़चिरौली, तेलंगाना जैसे अंचलों में जीवनधर्म के रूप में व्याप्त प्रतिरोध को कुचलने के लिए गोली की आवाज मेरे कानों से टकराती है तब मैं स्वयं को किसी कटघरे में खड़ा-सा महसूस करता हूँ। आखिर ऐसा क्यों है? कारण यही है न, कि विकास और सुविधाओं के जिस पायदान पर मैं हूँ वहाँ तक दांतेवाड़ा, नकुलनार, गीदम, बछेली, भोपालपट्टनम, सुकमा में बसी बेजुबान मानवता नहीं पहुंच सकी है। वह आज भी कोख से चिता तक एक ही पायदान पर रुकी हुई है और यह पायदान वंचन, उपेक्षा, अविश्वास, उत्पीड़न, शोषण, अन्याय और कमतर मानव की स्थितियों का एहसास कराता है। यदि ऐसा एहसास नहीं होता तो क्या भारतीय राज्य और आदिवासी भारत के बीच शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध हिंसक रूप में मौजूद रहते? क्या तथाकथित लाल गलियारा अस्तित्व में आता? यह एक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक यथार्थ है। वास्तव में इस यथार्थ ने शिखर से तलहटी तक एक स्तरीयवादी नागरिकता की धारा को हर मोड़ पर अवरुद्ध किया है। यह धारा बहुश्रेणियों और बहुद्वीपों में विभाजित है। इस विभाजन के कारण ही विकास समतावादी व समरूपी नहीं हो सका। पीछे मुड़कर देखने पर मैं अपने अनुभवजन्य यथार्थ को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ? बात उठी है विकास की। इस संदर्भ में कुछ घटनाओं का यहाँ उल्लेख प्रासंगिक रहेगा। किस्सा आपालकाल के दौर का है... विकास का नारा शाल वनों के द्वीप में गूंज रहा था, गीदम में पौष्टिक आहार का शिविर लगा हुआ था। हैदराबाद से पौष्टिक विशेषज्ञ आदिवासी प्रतिभागियों को आमलेट, मसाला डोसा, उत्तपम जैसे गैर आदिवासी आहार बनाने की प्रक्रिया समझा रहे थे लेकिन

इन विशेषज्ञों को ये मालूम नहीं था कि आदिवासी खानपान क्या होता है? महुआ, कोदा, कुटकी, सलफी जैसी स्थानीय वस्तुओं से किस प्रकार के पौष्टिक आहार बनाए जा सकते हैं।

दूसरा अनुभव- आदिवासी क्षेत्रों की शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में एक भी आदिवासी नायक, नायिका या कोई ऐतिहासिक पात्र नहीं था जिसके साथ आदिवासी विद्यार्थी स्वयं को जुड़ा महसूस कर सकें, इतना ही नहीं आदिवासी छात्रावासों में हनुमान चालीसा, दुर्गापूजा, सरस्वती पूजन जैसी बातें सामान्य दिनचर्या बन गयी थीं। कोई भी आदिवासी देवी-देवता मौजूद नहीं था।

तीसरा अनुभव- सरकार की विभिन्न आवास योजनाओं के अंतर्गत सीमेंट कंकरीट के मकान बनाए गए, जिन्हें आदिवासियों ने बसाहट के लिए कभी स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे आदिवासी समाज की परंपरागत जीवनशैली से नितांत भिन्न थे।

चौथा अनुभव- सरकारी अधिकारी और कर्मचारी विकास के नाम पर आदिवासियों से मुर्गा, धान, शहद, गोंद, महुआ, बांस, इमारती लकड़ी आदि की वसूली किया करते। जरूरत पड़ने पर लकड़ी के साथ-साथ लड़की भी वसूलते। दांतेवाड़ा के औद्योगिकृत बैलाडीला क्षेत्र में तो यह जीवन का यथार्थ ही बन चुका था।

पाँचवा अनुभव- ऋणग्रस्तता, भूमिहीनता, पलायन और खुदकुशी दक्षिण बस्तर के जीवन का अविभाज्य हिस्सा रहे हैं, विशेष रूप से तब से जब से वे तथाकथित आधुनिक बहुआयामी विकास संस्कृति से संप्रित हुए। वास्तव में आदिवासी विकास को एक स्वतंत्र व स्वायत्त घटना के रूप में देखता नहीं है। वह जीवन को सम्पूर्णता के रूप में देखता है। जब कोई प्रक्रिया या हस्तक्षेप उसके अस्तित्व व अस्मिता के विपरीत होती है तब वह भयभीत हो उठता है। वह कई प्रकार की आशंकाओं में घिर जाता है और उसकी यही मनोदशा उसके और राज्य के बीच में अविश्वास की जमीन तैयार कर देती है। विगत कई दशकों में सबसे बड़ा परिवर्तन तो मुझे आज ये दिखाई देता है कि उनमें सुप्त अस्तित्व अस्मिता के भाव अब मुखरित होने लगे हैं। वे विकास को ही नहीं बल्कि भारतीय राज्य की सम्पूर्ण उपस्थिति को एक प्रकार से अपनी सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की कोशिश करने लगे हैं और इसी प्रक्रिया में वे अपनी जड़ता से भी अनायास ही मुक्त हो रहे हैं जिससे कि वे ऐसे विकल्पों की खोज कर सकें जो कि परिवर्तित समय में भी उनके सम्पूर्ण इतिहास को सुरक्षित व गतिशील बना सके। सारांश यह है कि आज का सबसे बड़ा विमर्श यह है कि क्या दांतेवाड़ा की मानवता स्वयं को कमोडिटी बनने दे और किस सीमा तक व किस कीमत पर अपनी इस नई पहचान को स्वीकार करे?

II

भारत में विगत दो दशकों में जल, जंगल और ज़मीन, इन तीनों की भूख बेतहाशा बढ़ी है। एक प्रकार से भूख का विस्फोट हुआ है। इस विस्फोट में देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था की भूमिका क्या रही है, यह आज मुख्य रूप से विचारणीय प्रश्न है। जाहिर है, किसी भी देश की राजसत्ता ही राजनीतिक अर्थव्यवस्था (Political Economy) का रूप

व दिशा निर्धारित करती है। यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, भारत भी इसका अपवाद नहीं रहा है। भारतीय राज्य ने अपने चरित्र के अनुसार राजनीतिक अर्थव्यवस्था का निर्माण किया, दिशा निर्धारण और अन्ततः इसका क्रियान्वयन किया। यह सिलसिला औपनिवेशिक भारत से लेकर स्वतंत्र भारत तक निर्बाध रूप से चलता आ रहा है। अलबत्ता, आवश्यकतानुसार इसके आकार-प्रकार और क्रियान्वयन-नीतियां बदलते रहे हैं। इसमें नये-नये आयाम जुड़ते रहे हैं; औपनिवेशिक शासकों की लूट-नीतियों से भूख जन्मी थी, आज राष्ट्र-विकास की नीतियों ने भूख-विस्फोट किया है। निःसंदेह इस विस्फोट ने भारतीय राज्य और विकास के रणनीतिकारों के समक्ष गंभीर चुनौती प्रस्तुत की है। इस चुनौती को विकास-संकट कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा क्योंकि जल, जंगल और ज़मीन को लेकर नागरिक तथा राज्य आमने-सामने खड़े दिखाई दे रहे हैं। देश के सुदूर भीतरी आदिवासी अंचलों और कतिपय ग्रामीण व कस्बाई क्षेत्रों में टकराव की स्थितियां बनी हुई हैं। राजसत्ता के साथ सीमांत लोगों की मुठभेड़ें भी जारी हैं और शांतिपूर्ण आंदोलन भी चल रहे हैं। आखिर इस तनाव, संघर्ष, भूख के कारण क्या हैं? क्यों पीड़ित व सीमांत नागरिक राज्य को 'शत्रु' के रूप में देखने लगे हैं? क्यों इन अंचलों में राज्य-बल (सेना, अर्द्ध सैन्य बल, पुलिस आदि) का जाल फैलता रहा है? क्यों 'भूख' की तृप्ति और संघर्षों-आंदोलनों के दमन के मामले में भारतीय राजसत्ता का जन-विरोधी चरित्र उजागर हो रहा है? ये ऐसे सवाल हैं जिनसे पलायन संभव नहीं है बल्कि इनके कारणों की पड़ताल अपरिहार्य बनती जा रही है।

बीते अक्टूबर के मध्य में भारत के कानून मंत्री ने राज्य के आधारभूत स्तम्भों में से एक न्यायपालिका को आश्चर्यजनक सीख दी थी। कानून मंत्री सलमान खुर्शीद ने न्यायाधीशों से कहा था कि वे धनकुबेरों को जेल न भेजें, इससे देश में पूँजीनियोजन प्रभावित होगा। उन्हें चाहिए कि वे भारत की परिवर्तित राजनीतिक अर्थव्यवस्था को गहराई से समझें। इस नई व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ही न्यायपालिका का व्यवहार होना चाहिए क्योंकि जब तक कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के बीच सहयोगात्मक संबंधों का तालमेल नहीं रहेगा तो राष्ट्र कैसे प्रगति करेगा? कानून मंत्री की यह दृष्टि राजसत्ता के वर्तमान चरित्र को स्पष्ट करने के लिए स्वयं में परिपूर्ण है। यहाँ इस पहलू पर ध्यान देना होगा कि नई राजनीतिक अर्थव्यवस्था के तहत बहुराष्ट्रीय निगमों और देश के एकाधिकारवादी औद्योगिक घरानों के पूँजीनियोजन की गति तेज़ हुई है। इस गति से सामाजिक असंतुलन पैदा हुआ है और आर्थिक अपराध बढ़े हैं। एक प्रकार से नये 'आंतरिक औपनिवेशीकरण' की प्रक्रिया शुरू हुई है। फलस्वरूप, विसंगतियां पैदा हो गई हैं। राज्य के आधारभूत अंगों में से एक होने के बावजूद न्यायपालिका ने कई मामलों में तटस्थ भूमिका निभाई है। इस संदर्भ में जल, जंगल और ज़मीन से जुड़े जन संघर्षों (संदर्भ: सलवा जुडूम, उडिशा में पास्को विरोधी आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, कनार्टक में रेड्डी बंधुओं के खनिज-लूट के विरुद्ध संघर्ष, आदिवासियों के वन-अधिकार रक्षा आंदोलन, नागरिक स्वतंत्रता अधिकार, मानवाधिकार, सूचना का अधिकार, ईट-भट्टा

बंधक श्रमिकों का आंदोलन, फरीदाबाद और अलवर में खनिज संपदा दोहन के विरुद्ध आंदोलन, केरल का साईलेंट-वैली आंदोलन, आदि) में सर्वोच्च न्यायपालिका के कतिपय फैसलों से कार्यपालिका अपनी नीतियों पर पुनर्विचार के लिए विवश भी हुई है। इससे जन संघर्ष से जुड़े एक्टीविस्टों को राहत भी मिली और उनकी आंशिक जीत भी हुई है। अतः कार्यपालिका के संचालकों की चिन्ता स्वाभाविक है। आज भारत वैश्वीकरण के तीसरे चरण में प्रवेश करने जा रहा है। इसके लक्ष्यों की प्राप्ति तभी संभव है जब संबंधित देश की राजसत्ता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था अनुकूल रहे। जैसे जैसे वैश्वीकरण की तीन आधारभूत प्रक्रियाएं (उदारीकरण, निजीकरण और विनिवेशीकरण) तीव्र होंगी, उतना ही इनका दबाव जल, जंगल और ज़मीन पर बढ़ता जाएगा। जब दबाव बढ़ेगा तो समाज के प्रभावित लोगों और राज्य के बीच अन्तर्विरोध भी धारदार बनते जाएंगे। निःसंदेह यह स्थिति सामाजिक, आर्थिक-राजनीतिक अस्थिरताओं को जन्म देगी। इससे राजसत्ता के नेतृत्व-वर्ग के अस्तित्व के संकटग्रस्त होने की संभावना बढ़ेगी। इसलिए जल, जंगल-ज़मीन संघर्षों से निपटने के लिए राज्य के तीनों अंगों के बीच पूर्ण तालमेल जरूरी है। इस तालमेल के अभाव में वैश्वीकरण को उसकी तार्किक पारिणति तक नहीं पहुँचाया जा सकता। विडंबना तो यह है कि यह सब कुछ देश के आधुनिकीकरण, राष्ट्रनिर्माण, बहुमुखी विकास और सकल घरेलू उत्पादन (जी डी पी) में वृद्धि के नाम पर किया जा रहा है।

इतिहास पर दृष्टिपात करें तो १९४७ से पहले औपनिवेशिक शासकों ने भी भारत के लोगों को सभ्य बनाने (पुस्तक : White Men's Burden), भीतरी अंचलों (आदिवासी क्षेत्र) को राज्य के दायरे में लाने, कृषि-समाज का रूपांतरण करने और राजस्व का मुनाफा बढ़ाने की गरज से कई प्रकार के भूबंदोबस्त कानून लागू किये थे। लार्ड कार्नवालिस की भूबंदोबस्त योजना कुख्यात है। इस संदर्भ में तत्कालीन भूअधिग्रहण कानून, वन कानून आदि को देखा जा सकता है। १८वीं सदी से लेकर २०वीं सदी के मध्य तक विभिन्न समय में जल-जंगल-ज़मीन को लेकर हुए आदिवासी व किसान विद्रोह (संथाल विद्रोह, मुंडा विद्रोह, भूमकाल, भील विद्रोह, तेभागा आंदोलन आदि) इसके उदाहरण हैं। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में भी इसकी गूंज सुनाई देती है। उत्तर-औपनिवेशिक भारत में भी इस संघर्ष की निरंतरता है। विगत ६४ वर्षों में भी देश के अधिकांश राज्य जल, जंगल, ज़मीन के संघर्ष से कम-अधिक प्रभावित रहे हैं। इस संदर्भ में आंध्रप्रदेश, बिहार, पं.बंगाल, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, केरल, पंजाब, हरियाणा, उडिशा, कर्नाटक जैसे प्रदेशों में हुए आदिवासी व किसान आंदोलनों को याद किया जा सकता है। स्वतंत्र भारत के प्रथम दो दशक ऐसे आंदोलनों से काफी प्रभावित रहे हैं क्योंकि पंचवर्षीय योजना कालों में भारी पैमाने पर विस्थापन हुआ था। यह वह समय था जब बांधों के निर्माण, इस्पात कारखानों की स्थापना, खनिज संपदा के उत्खनन, जल विद्युत परियोजना आदि के युद्ध स्तर पर अभियान चलाए गए थे। इन अभियानों के फलस्वरूप दक्षिण बस्तर के बैलाडीला क्षेत्र में मशीनीकृत लोहा खदान, दुर्ग के भिलाई क्षेत्र व रांची में इस्पात कारखाने, पंजाब में भांखड़ा नंगल बांध, आन्ध्रप्रदेश में नागार्जुन सागर,

राजस्थान में इंदिरा गांधी उर्फ राजस्थान नहर, उत्तर-प्रदेश (अब उत्तराखंड) में टिहरी बांध, उडिशा में राउरकेला इस्पात कारखाना, बहुराज्य नर्मदा बांध परियोजना जैसी बहुआयामी योजनाएं अस्तित्व में आईं। इन योजनाओं को अमली रूप देने के लिए जल, जंगल और ज़मीन, तीनों ही आवश्यक थे। इसलिए, स्वतंत्र भारत की राजसत्ता ने प्रत्येक माध्यम से इस अभियान में हस्तक्षेप किया और करोड़ों की संख्या में लोग प्रभावित हुए। लोगों का अपनी परम्परागत सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक जड़ों से विस्थापन व पलायन हुआ। भूधारी आदिवासी और किसान भूमिहीनों एवं शहरी सर्वहाराओं में परिवर्तित हुए। नेहरूयुगीन समाजवादी काल के औद्योगीकरण के आंशिक प्रभावों के सजीव चित्रण को बिमल रॉय की 'दो बीघा ज़मीन', बी.आर. चोपड़ा की 'नया दौर', ख्वाजा अहमद अब्बास की 'शहर और सपना' जैसी फिल्मों में देखा जा सकता है। औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण ज़मीन की भूख ने आसमानी छलांग लगाई है। ज़ाहिर है, नई बसाहटों के लिए जंगलों की दरकार होगी और इससे पारिस्थितिकीय असंतुलन पैदा होगा ही। तनाव और टकरावों के नये क्षेत्र उभरेंगे ही। आज वैसा ही घट रहा है।

औद्योगीकरण और शहरीकरण को ही लें। विगत दो-तीन वर्षों में भवन-निर्माण और भूमि अधिग्रहण को लेकर उत्तर प्रदेश, हरियाणा (नोएडा, फरीदाबाद, अलीगढ़, गुडगांव), प. बंगाल जैसे राज्यों में सरकार और नागरिकों के बीच हिंसात्मक झड़पें हो चुकी हैं; सिंगूर, लालगढ़, नन्दीग्राम, नोएडा जैसे क्षेत्रों की हिंसक घटनाओं को लोग अभी भूले नहीं होंगे। प.बंगाल का तीन दशक से अधिक समय तक चलने वाला मार्क्सवादी शासन भी जल-जंगल-ज़मीन संघर्ष से उत्पन्न अन्तर्विरोधों का वैज्ञानिक समाधान करने में असफल रहा है। तब पूँजीवादी शासन-प्रशासनों से वांछित समाधान की आशा कैसे की जा सकती है?

इसी से जुड़ा मुद्दा सेज़ (Special Economic Zone) का है। जब से वैश्वीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई है तब से देश में सेज़ का जाल बिछाने की योजना भी काम कर रही है। इस योजना के अन्तर्गत विभिन्न प्रदेशों में गांवों व खेतों को उजाड़ कर निजी क्षेत्र में विशेष आर्थिक क्षेत्रों का निर्माण किया जाता है। एकाधिकारवादी घराने राज्य से हर प्रकार की राहत व सुविधा प्राप्त करते हैं। लेकिन उस क्षेत्र के मूल निवासियों पर सेज़ का कैसा प्रभाव पड़ता है, इसके प्रति राजसत्ता उदासीनता दिखलाती है। जहाँ सेज़ों का निर्माण होता है, वहाँ वंचन और विषमता की संस्कृति स्वतः जन्म ले लेती है। यह संस्कृति अलगाव और तनाव को भी जन्म देती है जो कि अन्ततोगत्वा संघर्ष में रूपांतरित हो जाते हैं। शहरी भारत के लिए ये खतरे के निशान हैं।

वास्तव में आज भारत में शहरीकरण का चक्र तीव्रता से चल रहा है। एक अनुमान के अनुसार वर्ष २०३० तक ५० करोड़ लोग शहरों में रहने लग जाएंगे अर्थात् ४१ प्रतिशत से अधिक आबादी शहरीकृत हो जाएगी। कई मेगा शहरों का निर्माण होगा। शहरीकरण का विस्फोट गंदी बस्तियों (स्लम) और गरीबों की फौज उगलेगा। इससे कर्बों, नगरों, मेगा नगरों, महानगरों में नागरिक-सुविधाओं (शिक्षा, अस्पताल, जल, आवास और

रोजगार) के लिए आपाधापी मचेगी और यह स्थिति राजसत्ता तथा नागरिकों के बीच असामान्य व असंतुलित सम्बन्धों की ज़मीन तैयार करेगी। इस ज़मीन की सतह से संविधानेतर संघर्ष-माध्यम ही उपजेंगे। यदि इन माध्यमों का इस्तेमाल चरमपंथी करते हैं तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

शेक्सपीयर का एक प्रसिद्ध नाटक है 'दी टेम्पेस्ट' (The Tempest)। करीब चार सदी पूर्व लिखा गया यह नाटक 'जल-जंगल, ज़मीन' के संदर्भ में पूर्व की भांति आज भी प्रासंगिक है क्योंकि कथावस्तु में उठाने गये सवाल २१ वीं सदी में भी चुके नहीं हैं। नाटक का प्रमुख पात्र प्रोसपेरो, जोकि विकसित व शक्तिशाली सभ्यता का प्रतिनिधि है, एक द्वीप में पहुँचता है। वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार करना चाहता है। इस द्वीप के वासी अत्यंत पिछड़ी व निर्बल विकास अवस्था के लोग हैं। इसी द्वीप का प्रमुख प्रतिनिधि केलीबान शक्तिशाली व्यवस्था के प्रतिनिधि प्रोसपेरो के साथ वे तमाम प्रश्न उठाता है जो आज उठ रहे हैं। नई व्यवस्था का प्रतिनिधि प्रोसपेरो, प्राकृतिक व्यवस्था के निवासी केलीबान को दास बनाना चाहता है, उसे सभ्य बनाना चाहता है और द्वीप की संपदा पर कब्ज़ा करना चाहता है। यह नाटक एक तरह से रूपक है, उन साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों का जिनका रक्तरंजित इतिहास मध्ययुग में एशिया, अफ्रीका और उत्तर-दक्षिण अमेरिका में देखने का मिलता है। इस संदर्भ में हम रैड इण्डियन जन जातियों (उत्तर दक्षिण अमेरिका के मूलनिवासी) की अन्तहीन त्रासदियों को याद कर सकते हैं। यूरोपीय सभ्यता के श्वेत प्रतिनिधियों ने लाखों रैड इण्डियनों की हत्याएं की। कनाडा और आस्ट्रेलिया में भी इन घटनाओं की पुनरावृत्ति हुई। जहाँ मूलनिवासियों का नरसंहार किया गया, वहीं उनकी विपुल सम्पदा पर भी कब्ज़ा जमाया गया। उनकी जीवन-शैली और संस्कृति को नष्ट किया गया। इस निर्मल जनजाति की मानवता के विरुद्ध किये गये ऐतिहासिक अपराधों की भयावहता को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र को दो बार जांच आयोग गठित करने पड़े थे। बर्ट्रेड रसेल जैसे विश्वविख्यात चिंतक आयोग के अध्यक्ष थे।

नाटक के इस प्रसंग के यहाँ उल्लेख का केवल यह उद्देश्य था कि हम जल, जंगल और ज़मीन के संघर्ष को सही परिप्रेक्ष्य में समझें। हमें याद रखना चाहिए, जनजाति समाजों में प्राकृतिक सम्पदा को 'कमोडिटी' के रूप में नहीं लिया जाता है क्योंकि ये तत्व जीवन के मूलभूत आधार होते हैं और संस्कृति के अविभाज्य अंग होते हैं। इसके विपरीत विकसित, शक्तिशाली और आधुनिक व्यवस्था के लिए सभी प्रकार की प्राकृतिक सम्पदा मूल्यवान 'कमोडिटी' की भूमिका निभाती है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था जल, जंगल, ज़मीन और खनिज पदार्थों को बाज़ार मूल्य में रूपांतरित करके देखती है क्योंकि राज्य का चरित्र राजनीतिक अर्थव्यवस्था का दिशा निर्धारक होता है। यह आधारभूत और गुणात्मक अंतर जनजाति और बाज़ार केन्द्रित व्यवस्थाओं के बीच रहता है। प्रकृति के प्रति दोनों समाजों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण ऐसे अन्तर्विरोधों को जन्म देते हैं जिनके कारण बहुआयामी संघर्ष अस्तित्व में आ जाते हैं। इन संघर्षों की पृष्ठभूमि में राजसत्ता के चरित्र व व्यवहार की पड़ताल के लिए विवश होना पड़ता है।

प्रायः साम्राज्यवादी व औपनिवेशिक राजसत्ताओं का चरित्र जनकल्याणकारी व विकासवादी नहीं रहा है, और न ही होता है। यह ऐतिहासिक सच्चाई है। पर स्वतंत्र राष्ट्र में स्वदेशी राजसत्ताओं से इसकी अपेक्षा अवश्य रहती है। भारत में नेहरू से लेकर इंदिरा युग तक यहाँ की व्यवस्था को प्रायः जनकल्याणकारी राज्य के रूप में देखा गया था। इंदिरा काल में 'ट्राइबल्स सबप्लान' (Tribals Sub- Plan) बना। नेहरू युग से भूमिसुधार कार्यक्रम शुरू हुआ। ज़मींदारी व्यवस्था पर प्रतिबंध लगा। तब जनजाति समाज और राज्य के बीच आज जैसे उग्र संघर्ष नहीं थे। यद्यपि आदिवासी अंचलों में शोषण, उत्पीड़न, भूमि और वन लूट भी थी लेकिन आज जैसी मिलीटेंसी नहीं थी। पर विगत दो दशकों से भारतीय राज्य के चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन आ चुका है। यह अपने ऐतिहासिक कल्याणकारी पथ से भटक चुका है। यह पूर्णतः उपभोक्तावादी, बाज़ारवादी और सुविधापूर्तिवादी (Facilitator) बन चुका है। यह प्रत्येक चीज को वैश्विक पूँजीवाद से जोड़ देना चाहता है। यह चाहता है कि जनजाति समाजों के प्राणाधार (जल, जंगल और ज़मीन) भी वैश्विक पूँजी से जुड़ जाएं। यह राज्य देशी-विदेशी पूँजी नियोजन के मार्ग को सुलभ बनाने के लिए तो हस्तक्षेप करता है लेकिन तद्वर्जनित सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक विसंगतियों को दूर करने के मामले में मूक दर्शक बना रहना चाहता है। यह शोषण व उत्पीड़न को दूर करने के मामले में तटस्थ रहना चाहता है, या पूँजीनियोजन की हिफाजत में खड़ा दिखाई देता है। इस हिफाजत के लिए वह किसी भी सीमा तक जाने के लिए तत्पर रहता है। इस व्यवहार को देखते हुए दी 'टेम्पेस्ट' के पात्र आज याद आने लगते हैं।

आज सुपर टेक्नोलॉजी का युग है। वैश्विक पूँजीवाद और सुपर टेक्नोलॉजी राज्य से चरम उपभोक्तावादी संस्कृति (या अपसंस्कृति) की जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वर्चस्वता की मांग करते हैं। एक तरफ नगरों व महानगरों में मलिन बस्तियां (स्लम) भिनभिना रही हैं वहीं फारमूला-एक रेस का आयोजन होता है। इस आयोजन के लिए हजारों एकड़ भूमि चाहिए। रेस-कारों को दौड़ाने के लिए ग्रामीण बस्तियां उजाड़ी गईं, खेत उजाड़े गए। चरम उपभोक्तावादी ताण्डव तभी संभव है जब जल, जंगल, और ज़मीन बाजार अर्थव्यवस्था का अविभाज्य हिस्सा बने। इस ताण्डव की चपेट में देश के भीतरी अंचल ही नहीं हैं बल्कि मुख्यभूमि के क्षेत्र भी आ चुके हैं। यह एक वैश्विक (विशेषतः विकासशील व अर्द्धविकसित देश) परिघटना है। चीन में भी इसका चक्र चल रहा है। विगत एक दशक में वहाँ हजारों किसान-संघर्ष हो चुके हैं। चीन में शहरीकरण की प्रक्रिया द्रुतगति से चल रही है। अगले १८-१९ वर्षों में चीन की ६० प्रतिशत जनसंख्या का शहरीकरण हो जाएगा अर्थात् करीब ८५ करोड़ चीनी शहरों में रहने लगेंगे। गौरतलब यह है कि भारत और चीन, दोनों ही २०३० तक विश्व की महाआर्थिक शक्ति बनने का स्वप्न पाले हुए हैं। इस 'महाशक्ति परियोजना' के लिए राष्ट्र के सभी भौगोलिक क्षेत्र अछूते नहीं रहेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि जब कृषक समाज का शहरी समाज में रूपांतरण होता है तो काफी कुछ घटता है। काफी कुछ बदलता है। मूल्य बदलते हैं, संवेदना और नैतिकता प्रभावित होती हैं। व्यक्तियों के बीच, व्यक्ति और समाज तथा समाज एवं राज्य के बीच

नये संबंध बनते हैं जो कि शुद्ध 'उपयोगिता' पर आधारित होते हैं। आज देश में फार्म संस्कृति (Farm Culture) परम्परागत किसान संस्कृति को अपदस्थ कर रही है। फार्म संस्कृति के कारण शहरी भारत में गैर मौजूद जमींदारवाद (Absentee Landlordism) फैल रहा है। छोटे-बड़े औद्योगिक घराने उपजाऊ ज़मीनें खरीद रहे हैं। रिलायंस जैसे एकाधिकारवादी घराने साग-सब्जी जैसे स्थानीय धंधों में घुसपैठ कर चुके हैं। लघु वन उत्पाद (महुआ, जड़ीबूटी, गोंद, शहद, तेंदु पत्ता आदि) भी इस घुसपैठ का शिकार हो चुका है। इन घरानों की लोभी आंखें जल, जंगल, ज़मीन पर गड़ी नहीं होंगी, यह असंभव है तथा उनके स्वाभाविक व ऐतिहासिक चरित्र के खिलाफ है। इसलिए चरमउपभोक्तावादी दौर में राज्य और अपने मूलआधारों से अपदस्थ, वंचित एवं विस्थापितों के मध्य 'शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध' का आक्रामक व हिंसक होना अस्वाभाविक नहीं है।

विश्व के वर्तमान परिदृश्य में कोई भी घटना लम्बे समय तक स्थानीय नहीं रहती है। एक निश्चित सीमा के पश्चात यह घटना राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय बनने लगती है क्योंकि मीडिया इसमें सक्रिय भूमिका निभाता है। यही बात आंदोलन, सत्याग्रह और संघर्ष पर लागू होती है। पिछले दिनों अण्णा आंदोलन की आवाज़ विश्व मंच पर गूंजी थी। इसी संदर्भ में चिपको आंदोलन, टिहरी बचाओ आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, आदिवासियों की जल, जंगल, ज़मीन रक्षा आंदोलन, लावास व जैतापुर परियोजना विरोधी आंदोलन आदि से जुड़े प्रभावों को याद किया जा सकता है। गांधीवादी एक्टीविस्ट राजगोपाल के नेतृत्व में आदिवासियों की जल, जंगल-ज़मीन मुद्दे पर दक्षिण भारत से लम्बी पैदल यात्रा शुरू हो चुकी है। चार वर्ष पहले भी इसी सवाल पर ग्वालियर-दिल्ली पद यात्रा आंदोलन किया गया था जिसमें उत्तर भारत के हजारों आदिवासियों और भूमिहीन किसानों ने भाग लिया था। दक्षिण राजस्थान में भील आदिवासियों और किसानों का अलग से आंदोलन चल रहा है। पश्चिम बंगाल में सत्ता परिवर्तन के बावजूद जल, जंगल, ज़मीन के संघर्ष का वांछित समाधान दिखाई नहीं दे रहा है। देश का शायद ही ऐसा कोई प्रदेश शेष हो जहां इस मुद्दे को लेकर छोटे-बड़े आंदोलन न किये जा रहे हों। इस प्रकार की स्थिति और समाज के प्रभावित वर्गों की घनीभूत पीड़ा वर्तमान व्यवस्था के लिए देर-सबेर अस्तित्व का संकट भी पैदा कर सकती हैं। इस स्थिति का लाभ जहाँ सभी प्रकार की चरमवादी शक्तियां उठाएंगी, वहीं बाहरी शक्तियां भी गिद्ध बनकर चोंच मारने से चूकेंगी नहीं। इसलिए जल, जंगल-ज़मीन मुद्दे के समाधान की दिशा में बहुआयामी रणनीति की आवश्यकता है। इस संबंध में निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जा सकता है:

- एक : सर्वप्रथम विकास की अवधारणा पर स्पष्टता की आवश्यकता है। इस मामले में राष्ट्रीय बहस (शिखर से तलहटी तक) कराई जानी चाहिए। प्रभावित और प्रभावोन्मुख वर्गों के प्रतिनिधियों को इसमें शामिल किया जाना चाहिए। नये राजनीतिक-आर्थिक विकल्पों के लिए स्पेस पैदा किया जाए।
- दो : विस्थापन, पलायन, पुनर्वासन और जीविका-अर्जन के संसाधनों का लघु व बृहत स्तरों पर सर्वेक्षण किया जाना चाहिए।

- तीन : विभिन्न परियोजनाओं से प्रभावित आदिवासियों व किसानों को संतोषजनक मुआवजा नहीं मिला है। इससे असंतोष बना हुआ है। इसका राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण व समाधान होना चाहिए।
- चार : वन कटाई और भूमिअर्जन के मामले में संबंधित क्षेत्र के लोगों की पंचायत का निर्णय मान्य होना चाहिए।
- पांच : बहुराष्ट्रीय निगमों, एकाधिकारवादी घरानों और बड़ी पूंजी के लोगों को छूट नहीं दी जानी चाहिए। निजी क्षेत्र पर प्रतिबंध लगाना चाहिए।
- छह : जनजाति अंचलों में औद्योगिक संस्कृति ले जाने से पहले वहां के लोगों में सही-गलत पहचान की क्षमता पैदा की जाए। प्रतिरोधात्मक शक्ति से उन्हें लैस किया जाए।
- सात : इन अंचलों के लोगों के लिए विवेचनात्मक शिक्षा प्रणाली शुरू की जाए। इसके 'ईथोस' को ध्यान में रख कर विशेष पाठ्यक्रम तैयार कराए जाएं। प्रतिबद्ध शिक्षकों का होना अति आवश्यक है।
- आठ : इन अंचलों में संवेदनशील व प्रतिबद्ध प्रशासनिक कार्मिकों की नियुक्ति होनी चाहिए, विशेष रूप से निचले स्तर के कार्मिक-वर्ग के मामले में अति सावधानी बरती जाए। राजस्व, वन और पुलिस कार्मिकों के चयन में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है।
- नौ : छोटी-बड़ी परियोजनाओं के क्रियान्वयन में स्थानीय लोगों की सक्रिय भागीदारी को प्रोत्साहित किया जाए।
- दस : लघु वन उत्पादों की खरीदी-बिक्री को नितांत भ्रष्टाचार व लूट मुक्त बनाया जाए। बाहरी खुदरा व्यापारियों का प्रवेश वर्जित घोषित किया जाए।
- ग्यारह : निश्चित काल के लिए बाहरी ठेकेदारों और व्यापारियों के आवागमन पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया जाए।
- बारह : अदालतों में जल-जंगल-जमीन से संबंधित लम्बे समय से लंबित मामलों का निश्चित अवधि के भीतर त्वरित निपटान हो।
- तेरह : आदिवासी बहुल जिलों में ऐसे न्यायकर्ता और अधिवक्ता होने चाहिए जो कि इस समाज के ईथोस से परिचित होने के साथ-साथ उसके लिए वांछित सहानुभूति भी रखें। इस संबंध में इस सच्चाई को याद रखना चाहिए कि विकसित व उपभोक्ता समाज द्वारा निर्मित न्याय-व्यवस्था अन्ततोगत्वा इस सरल, निर्मल समाज के लिए नकारात्मक सिद्ध होती है। इस प्रकार की कई घटनाएं प्रकाश में आ चुकी हैं। पाइक और डीकू तत्वों (गैर-आदिवासी बाहरी लोग) ने पेचीदा व खर्चीली न्यायप्रणाली का भरपूर लाभ उठाया है और जंगल व जमीन पर डाका मारा है। फलस्वरूप अनेक भूमिहीन व वनविहीन आदिवासियों ने खुदकुशी की है। लम्बी मुकदमेबाजी ने उनका सब कुछ छीन लिया। सरकार को चाहिए कि वह आदिवासी जिलों की ज़ेलों का सर्वेक्षण कराए और सज़ा भुगत रहे आदिवासियों के मामलों

की पुनर्समीक्षा करे।

चौदह : प्रतिरोधी सोचवाले आदिवासियों और किसानों को राज्य और राष्ट्र विरोधी न माना जाए। वैकल्पिक राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था संबंधी विचारों व विकास के प्रति सहिष्णुता दिखाई जाए।

पन्द्रह : विकास संरचना परजीवी वर्गों को जन्म न दे। इसके विपरीत यह उत्पादक वर्गों तथा समतामूलक उत्पादन व वितरण को प्रोत्साहित व सुदृढ़ करे।

सोलह : जल, जंगल और ज़मीन को 'कमोडिटी' न बनाया जाए। चरमउपभोक्तावाद और सुपर-टक्नोलॉजी की दानवी भूख को शांत करने का इसे माध्यम न बनने दे। इसे समाज, संस्कृति, सभ्यता और मानव विकास के आधारभूत तत्वों के रूप में ही देखा जाए।

सत्रह : स्वतंत्र भारत, विशेषरूप से सीमांत समाज, की लोकतांत्रिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भूमि अधिग्रहण कानून में आमूलचूल परिवर्तन किया जाए।

अठ्ठरह : 'सार्वजनिक हित में' की परिभाषा पर व्यापक चर्चा कराने के पश्चात इसकी कसौटियां निर्धारित की जानी चाहिए।

उन्नीस : शहरीकरण का विकेन्द्रीकरण किया जाए। नागरिक सुविधाओं का केन्द्रीकरण बंद किया जाना चाहिए। नगरों में उपलब्ध बुनियादी सुविधाएं (आवास, चिकित्सा, शिक्षा, रोज़गार आदि) आदिवासी और ग्रामीण अंचलों में भी सभी को प्राप्त हों।

बीस : भीतरी अंचलों में सक्रिय 'आंतरिक औपनिवेशीकरण' की समस्त प्रक्रियाओं का अंत किया जाए। प्रशासनिक कार्यशैली को अधिकाधिक पारदर्शी व लोकतांत्रिक बनाया जाए।

और अन्त में,

जब तक राजसत्ता प्रोसपेरो बनी रहेगी, केलीबानों का संघर्ष इसी प्रकार जारी रहेगा। इसलिए अब एक ही विकल्प बचा है और वह है 'प्रोसपेरो सिंड्रोम' का निर्णायक अन्त। बेहतर तो यही रहेगा कि राज्य स्वयं ही इससे मुक्ति ले, वरना केलीबान इसका ध्वंस कर देंगे।

संदर्भ

१. Imagining ASIA in 2030; संपादक अजेय लेले व नम्रता गोस्वामी
२. बेजुबान : डा. ब्रह्मदेव शर्मा
३. Islands of Deprivation: R.S. Joshi
४. The Tempest : Shakespeare
५. बहुवचन : अंक २८

नवउदारवादी आदिम संचयन : सामाजिक संसाधनों की लूट

कमल नयन काबरा

नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को विकास विमर्श में क्षेत्र प्रतिक्रांति के रूप में देखा समझा गया है। इस आकलन के पीछे सिद्धान्तों के साथ ही अनेक देशों के अनुभव का बल साफ दिखाई देता है। नवउदारवाद ने सन् १९९१ में भारत में प्रवेश करने के साथ-साथ अपनी विश्वविजय यात्रा लगभग पूरी कर ली थी। बड़ी संगठित पूंजी और उसके साथ खड़े अन्य तबकों ने मिलकर भारत की राज्यवादी आर्थिक वृद्धि की शुरु से ही आधी-अधूरी, पस्त हिम्मत और प्रभावहीन तरीकों से लागू नीतियों के टिकाऊपन पर प्रश्नचिह्न लगा दिये थे। राष्ट्रीय आय वृद्धि को विकास मानने के कारण सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का सारतत्त्व जन सरोकारों और राष्ट्रीय जरूरतों दोनों से पर्याप्त तथा सार्थक तरीकों से नहीं जुड़ पाया। राष्ट्रीय आय वृद्धि-प्रक्रिया के कर्ता-धर्ता शुरु से ही आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मामलों में अत्यधिक शक्तिशाली देसी-परदेसी तबके थे। धनी देशों के साथ समकक्षता-सादृश्यता प्राप्ति के प्रयासों ने उनकी शक्ति और संसाधन नियंत्रण को और अधिक गहराई और विस्तार दिया। फलतः न तो ज्यादातर भारतीयों, विशेषकर बाज़ार द्वारा असमावेशित गरीब और आजीविका साधनविहीन लोगों को उत्पादन प्रक्रिया में समुचित भागीदारी देने का बन्दोबस्त हुआ और न ही उनकी जरूरतों, रुचियों, जीवन-शैली और पोसावट के अनुरूप वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन पर्याप्त प्राथमिकता प्राप्त कर पाया। इस तरह के आंशिक तथा संपन्न वर्गों के पक्षपाती विकास की लागतों को वंचित जनसंख्या के विशाल भाग पर बचत, श्रम आदि विविध रूपों में इन असमावेशित तबकों पर गैर-आनुपातिक रूप से थोपने के साथ ही उन्हें अपने अमूल्य संसाधनों से भी वंचित किया। जमीन, जल, जंगल, खदानों आदि के पारम्परिक स्वामित्व तथा उनके उपयोग के अधिकारों का भी धनी तबकों के पक्ष में हस्तांतरण किया गया। इस हस्तांतरण या लूट को सामान्य बाजार प्रक्रियाओं के साथ-साथ राज्यशक्ति के जन-विरोधी पक्षपाती उपयोग, छल-कपट, विधि तथा नैतिकता विरोधी काली अर्थव्यवस्था के द्वारा अंजाम दिया गया। शेष

विश्व में उन्नत पूंजीवाद के शुरुआती दौर में भी ऐसी प्रक्रियायें सक्रिय रही थीं। भारत में नवउदारवादाधीन पूंजी-निर्माण आदिम संचयन काल की याद दिलाता है। इन सब कारगुजारियों के चलते उत्पादन की शक्तियों का उन्नयन हुआ किन्तु इस प्रक्रिया के साथ न्यायपूर्ण भागीदारी दायक सामाजिक संबंध स्थापित नहीं किये जा सके। फलस्वरूप उत्पादन प्रसार प्रक्रिया के कर्ता-धर्ता की भूमिका आर्थिक-वित्तीय क्षेत्रकों के शीर्षस्थ कम्पनी क्षेत्र तथा बड़ी संगठित पूंजी के हाथों में केन्द्रित होती गयी।

भारतीय पूंजीवाद की यह त्रासदी रही है कि व्यापक भागीदारी पूर्ण बराबरी की प्रतियोगिता पर आधारित पूंजीवाद के प्रारंभिक चरणों की सफल परिणति के पहले ही उसमें अल्पाधिकार और एकाधिकार के लक्षण प्रबल होने लगे। किसी ने ठीक ही कहा है, भारत के पूंजीवाद में किशोरावस्था में ही प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था के लक्षण उभरकर सामने आने लगे। इस संभावना का बीजारोपण आजादी के पहले ही, खासकर दो महायुद्धों के बीच के अन्तराल तथा द्वितीय युद्ध के दौरान हो चुका था। मैनेजिंग एजेन्सी व्यवस्था के अन्तर्गत सीमित दायित्व की सार्वजनिक कम्पनियों द्वारा कानून की भावना तथा उसके प्रावधानों का व्यापक उल्लंघन हुआ। साथ ही काला बाज़ारी, कर-चोरी, घटिया उत्पादन, रिश्वतें बांट कर आर्थिक तथा सामाजिक कानूनों को दर-किनार कर प्रारंभिक पूंजी संचयन (प्रिमिटिव कैपिटल एक्क्यूमुलेशन) की प्रक्रियायें बखूबी चलाई गयीं। भारत के एक अति लघु व्यवसायिक तबके ने उत्पादन के लिये उत्पादन करके यानी सामाजिक उद्देश्यों से कोसों दूर अपनी घोषित-अघोषित संपत्ति में भारी इजाफा किया।

स्वातंत्र्योत्तर काल के भारतीय राज्य द्वारा निर्धारित नियमन-नियंत्रण और अन्य आर्थिक नीतियों और दूसरी ओर उद्योगपतियों द्वारा बनाई गई 'बोम्बे प्लान' में शामिल नीतियों में उल्लेखनीय एकरूपता देखी जा सकती है। किन्तु स्वातंत्र्योत्तरकालीन राजनीति में जनपक्षीय, समतामूलक, राजकोषीय (राजस्व, व्यय तथा निवेश दर वर्द्धक), औद्योगिक, कृषि, विदेशी व्यापार, संतुलित प्रादेशिक विकास आदि महत्वपूर्ण नीतियों के लिए जन लामबंदी तथा वैचारिक आन्दोलनों द्वारा संगठित (अपनी वर्गहित चेतना में काफी सजग) कोई मुहिम, किसी के द्वारा, शुरू नहीं की गई। किन्तु धनी देशों की भागीदारी और वैचारिक तथा 'नैतिक' समर्थन से पश्चिमी मुख्य धारा अर्थशास्त्र के दबदबे के अन्तर्गत विकास नीतियों का निर्धारण हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की खास पहचान रही। अन्तर्राष्ट्रीय और देश के आन्तरिक स्तर पर विकास को, यानि उत्पादन वृद्धि को प्राथमिकता देने के नाम पर न्यूनतम जन सुविधाओं और सामाजिक सुरक्षा (जिसकी वकालत मुक्त बाजार नीति के फ्रेडरिक हेयेक जैसे धुरंधर ने भी की थी) शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की घोर उपेक्षा ही नहीं हुई, बल्कि राज्य की कोअरसिव शक्ति के प्रतीक और अनुपालनकर्ता राजकीय अधिकारियों और वी.आई.पी.-वाद के तहत विशेषाधिकार प्राप्त स्वयंभू राजनेताओं के सामने आम नागरिकों को निरीह, बेबस, लाचारों; एक तरह से कृपाकाक्षियों की स्थिति में डाल दिया गया। महानगरीय, धनी देशों के अन्धानुकरणीय उपभोक्तावाद के तहत

सम्पत्ति-संग्रहक, आनन्द या भोगवादी अभिजात तबकों की पांचों अंगुलियाँ घी में डुबोयी जाती रहीं। दूसरी तरफ आम आदमी की दीन-हीन, सामाजिक असमावेशित स्थिति के निरपेक्ष तथा सापेक्ष दोनों तरह से लगातार नीचे गिरते रहने को थामने के कोई कारगर उपाय नहीं किये गये।

इस स्थिति के पनपने के साथ ही समष्टिगत आर्थिक असंतुलनों खासकर विदेशी मुद्रा प्रबंधन, राजकोषीय प्रबंधन, कीमत-स्फीति नियंत्रण, विदेशी व्यापार प्रबंधन के लचर दिग्भ्रमित स्वरूप के कारण भारत की आर्थिक नीतियाँ एक अन्धकूप के गर्त में अटक गईं। भारतीय राज्य सामान्य तौर-तरीकों से अर्थव्यवस्था के सामान्य-संतुलित संचालन की क्षमता को खोता जा रहा था। अन्य राजनीतिक, प्रशासनिक संकटों और कुप्रबंधन के कारण ऐसा कोई भी राजनीतिक दल अकेले इस स्थिति में नहीं रहा कि इन विसंगतियों, अंतर्विरोधों से आर्थिक सामाजिक प्रबंधन को मुक्त करने का भरोसा भर दिया जा सके और संविधान-सम्मत, बहुमत समर्थित सरकार अपने खुद के जनाधार के आधार पर बना सके। स्पष्ट सिद्धान्तों और न्यायसंगत दीर्घकालिक राष्ट्र तथा जन हितकारी नीतियों और प्रतिबद्धतापूर्ण राजनीतिक गठबंधनों के स्थान पर विभाजित, संकीर्ण, शुद्ध स्वार्थों के लिए संघर्षरत राजनीतिक समूहों की आपसी सौदेबाजी और बंदरबॉट सत्तासीन होने के तरीके बन गये। कुछ ऐसे-ऐसे जोड़-तोड़ में माहिर और भारत जैसे देश के शासनाध्यक्ष की क्षमता, गरिमा और नैतिकताविहीन व्यक्ति प्रधानमंत्री की कुर्सी तक पहुँच गये कि इन गंभीर संकटों और चुनौतियों का गहराना रोका नहीं जा सका। हम इन नकारात्मक प्रवृत्तियों और नतीजों का उल्लेख इसलिये कर रहे हैं कि भारत में काले धन की दो नम्बरी अर्थव्यवस्था के अभूतपूर्व प्रसार और सुदृढीकरण ने उभयपक्षीय स्वार्थ-एकीकरणकारक राजनीति और राज्य व्यवस्था का इतना जमकर इस्तेमाल किया कि लगता है कि काली अर्थव्यवस्था (जो संगठित अर्थव्यवस्था का लगभग दूसरा नाम-सा बन गयी है) और काली राजनीति का एक खतरनाक एवं भयावह गठजोड़ देश पर हावी होता जा रहा है।

आजकल नवउदारवादी नीतियों के दो दशकों के फलस्वरूप भ्रष्टाचार, काली अर्थव्यवस्था, जन सरोकारों के विपरीत अपने-अपने खानदानों के क्षुद्र स्वार्थों के प्रसार और संरक्षण में तल्लीन राजनीति और राजकाज फिलहाल हमारी दुर्भाग्यमय नियति बन गये लगते हैं। इस दौरान बहुआयामी विषमताओं में इतना शर्मनाक इजाफा हुआ है और उसका मुख्य भाग कानून की नजर में और प्रशासनिक आंकड़ों और रिकार्डों में भूमिगत या गुप्त रहते हुए भी हमारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन के पग-पग पर पसरा पड़ा है। इसके दुष्परिणाम दशकों तक हमारा पीछा करते रहेंगे। देश की राज्य तथा अन्य शक्तियों पर राजनीति, प्रशासन तथा व्यवसाय के शीर्ष की तिकड़ी काबिज हो गयी। अतः हम जन-जन के पसीने, आंसुओं और खून सने अकूत सम्पत्ति-संग्रहण के कुछ खतरनाक आयामों की ओर ध्यान खींचना चाहेंगे। ये सब एक भयावह भविष्य की पदचाप सुना रहे हैं। हाँ, इस अंधेरे में कुछ जुगनुओं की चमक जरूर चमक और बुझ रही है।

सीधी बात यह है कि काले धन को छिपा कर रखना पड़ता है क्योंकि इसे छिपाकर हथियाया जाता है और यह गैरकानूनी तथा अनैतिक है। चाहे वह कलुषित धन व्यावसायियों, प्रोफेशनल विशेषज्ञों, राजनीतिक लोगों या राजनीति के व्यवसायियों अथवा नौकरशाहों किसी के भी हाथ में हो। जाहिर है खुल्लम-खुल्ला काले धन की घोषणा नहीं की जा सकती है। काले धन का यह लक्षण काले धन के प्रसार में सहायक होता है, न कि उसकी मात्रा या बढ़त दर सीमित करने में। खोटा सिक्का हमेशा खरे सिक्के से जल्दी और ज्यादा चलता है। जमीन इस गुप्त संग्रहण का काफी प्रचलित और आकर्षक माध्यम बन गया है। यह प्राकृतिक संपदाओं का दूसरा नाम है। जमीन की मिल्कियत सरलता से अनेक तरीकों से कानून के सूचनातंत्र और उसकी पहुँच के बाहर रखी जा सकती है। इसकी असली कीमत को कम करके दिखाना भी सरल तथा आमतौर पर प्रचलित रिवाज-सा हो गया है। यदि जमीन का उत्पादक कामों के लिये उपयोग प्रत्यक्ष रूप से जमीन रखने वाले या खरीदने वाले नहीं भी करें तो भी इससे वित्तीय लाभ और सामाजिक रुतबा प्राप्त किया जा सकता है। अनेक कारणों से (जिनमें स्वयं काले धन के आधार पर जमीन की बढ़ती मांग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है) जमीन की कीमतें बढ़ती रहती हैं। अनेक खुले-छिपे तरीकों से जमीन को विभिन्न मुद्रा-अर्जक कामों में लगाया जा सकता है। गैर-कानूनी और अनैतिक तौर-तरीके प्रिमिटिव एक्विमुलेशन यानी पूंजीवाद के पहले या प्रारंभिक चरणों में पूंजी, खासकर मौद्रिक रूप में, पूंजी संचयन के तरीके इसमें शुमार किये जाते हैं। अतः ऐसे आदिम संचय प्रक्रियाओं द्वारा जमा किये धन को काली अर्थव्यवस्था का हिस्सा माना जा सकता है। फर्क इतना है कि ऐसे धन-संग्रह के स्रोतों का खुलासा करने की कानूनी बाध्यता नहीं होने के कारण ऐसे जोर-जबर्दस्ती, धोखे या तिकड़म द्वारा प्राप्त किये धन को काली या अघोषित अर्थव्यवस्था का हिस्सा मानने की आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती है।

कई बार जमीन पर कब्जा भी आदिम संग्रहण के तरीकों से किया जाता है। जमीन पर जबरन हक जमाने या सरकारी जमीन पर अतिक्रमण के ढेरों उदाहरण मिल जायेंगे। इन सब कामों का घनिष्ठ संबंध काली-अर्थव्यवस्था, काली राजनीति और काले प्रशासन से है। इसे हम कानूनसम्मत शासन तथा समाज व्यवस्था, सब नागरिकों के साथ समान व्यवहार के कानूनों और नैतिक प्रतिमानों का उल्लंघन भी कह सकते हैं। भारत में किसानों, आदिवासियों तथा दलितों की जमीन उनसे अनेक तरीकों से छीनी गयी है। उनका जंगलों और गांवों की जमीन से विस्थापन नवउदारवाद के दौरान बेहद बढ़ गया है। इस दौरान एस.इ.जेड. यानि 'सेज' (विशेष आर्थिक जोन) स्थापित करके देशी और विदेशी बड़ी कम्पनियों को पचासों मील तक फैली जमीनों का एकछत्र राजा बनाने की नीति शुरू की गयी। इस जमीन से इसके मूल मालिकों, उपयोगकर्ताओं, इसके आधार पर आजीविका पाने वाले और अप्रत्यक्ष रूप से इनके पर्यावरणीय, रोजगारीय, भ्रमणार्थ लाभ उठाने वालों को वंचित करने की प्रक्रिया को 'सेज' की नीति ने बढ़ावा दिया। सड़कों, रेलों, पुलों, बिजली घरों, खदानों, कारखानों, सिंचाई, बांधों, सार्वजनिक सेवाओं के लिए भवनों,

पार्कों, उद्यानों आदि के लिये भी मूक-असंगठित गरीबों की पारंपरिक जमीनों का बेदर्री से अधिग्रहण किया गया। क्योंकि यह अधिग्रहण जबरिया लादा या थोपा गया अधिग्रहण था, मुआवजे के नाम पर एक क्रूर और भद्दा मजाक किया गया, ऐसे जमीन अधिग्रहणों के लाभार्थी मुट्ठी भर साधन संपन्न लोग थे और इनका दंड आम आदमी को भरना पड़ा। इस खुली कानूनी लूट का आलम यह रहा कि जरूरत से कई ज्यादा गुणा जमीन का सरकारी स्तर पर जबरिया अधिग्रहण किया गया। अनेक कम्पनियों ने भी इस लूट की बहती गंगा में हाथ धोया। उन्होंने जरूरत से बहुत ज्यादा जमीन 'माटी' के भाव हथिया ली। कुल मिलाकर इन अधिग्रहीत जमीनों के इस्तेमाल से जितनी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संख्या में रोजगारों का सृजन हुआ उससे अतुलनीय ज्यादा लोगों को सदा के लिये उनकी रोजी-रोटी अस्मिता तथा सामाजिक जड़ों और सामुदायिकता से वंचित कर दिया गया। आज ये तथ्य सब तक पहुँच चुके हैं।

सबसे ज्यादा अन्यायपूर्ण है इस जमीन के बदले दिये गये मुआवजे के नाम पर किया गया अन्याय। तेजी से वास्तविक मूल्य खोते रुपये जैसे को शाश्वत, उत्पादकता 'लेबेन्सरोम' के बतौर जीवन और सामाजिकता की आधारशिला जमीन के बदले मुआवजा मानना बाजारी नैतिकता या न्यायपूर्ण विनियम तक की कसौटी पर सही नहीं है।

यहाँ भारत के राजनीतिक अर्थशास्त्र की जमीन के मामले में परिलक्षित एक अनुचित और अस्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है। निस्संदेह भारत में भूमि स्वामित्व और नियंत्रण के मामले में घोर विषमतायें एक कटु ऐतिहासिक सच्चाई है। वर्तमान में तो यह स्थिति और भी बदतर हुई है। इस पृष्ठभूमि में सन् १९५० से घोषित भूमि-सुधारों, खासकर उसके जोतने वालों के पक्ष में पुनर्वितरण की नीति आजादी के बाद के भारत की न्यायपूर्ण समाज निर्माण की दिशा में प्रस्तावित शायद सबसे बड़ा कदम था। किन्तु इस समताकारी नीति का एक विषमतामय पहलू हमेशा भुला दिया जाता है। क्या हमारी भूमि के अलावा अन्य उत्पादक और अनुत्पादक परिसम्पत्तियों के मामले में असमानतायें कम भीषण थीं? क्या उनके न्यायपूर्ण वितरण की कम अहमियत थी? किन्तु इन अन्य ज्यादा या कम से कम समान रूप से हानिकारक विषमता के मामलों में चाहे वह शहरी भूमि या इमारतें हों, शेयर पूंजी हो, व्यावसायिक तथा औद्योगिक पूंजी हो, स्वर्ण, रत्न, आभूषण आदि हों; तात्कालिक की बात तो दूर दीर्घकालिक समान वितरण अथवा कम से कम भविष्य में बढ़ते असमान वितरण की नीति की कोई सुगबुगाहट तक नहीं देखी गयी? क्या ऐसी आंशिक तथा लंगड़ी समानता की नीति भूस्वामियों के प्रति असमानतावर्द्धक नीति नहीं थी, विशेषकर इस वजह से भी कि अनेक भूस्वामी स्वयं किसान थे और हैं? जगजाहिर है कि कृषिकर्म महज व्यवसाय नहीं जिन्दगी जीने का एक पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चला आ रहा तरीका, एक सभ्यता और संस्कृति की धरोहर भी थी। केवल उन्हें वंचित करना, बिना पुनर्स्थापन के प्रयासों के तथा अन्य विशालतर सम्पत्तियों को लगातार विशालता की ओर ऊँची मंजिलों तक पहुँचाते हुए किसी सामाजिक न्याय और

सद्भावना की ओर बढ़े कदम तो नहीं माने जा सकते। इस तरह की असंतुलित और पक्षपातपूर्ण नीति की दुरुस्ती और फिर सफलता के लिए आवश्यक शर्तों की पहचान आज तक सुचारु रूप से नहीं की गयी है।

हमने यह प्रश्न इस परिप्रेक्ष्य में इसलिये उठाया कि काले धन की नींव पर बनाई गयी बहुमुखी कुविकासकारी नीतियों का हमारी व्यवहारित, वास्तव में चालू समाज व्यवस्था से गहरा संबंध है। इसलिये भूमि का उन लोगों से बाजारीय नैतिकता तथा कार्य प्रणाली के सिद्धांतों के आधार पर भी अधिग्रहण अनुचित है। यद्यपि, विकास में इन असमावेशित तबकों की भागीदारी सर्वाधिक प्राथमिकतापूर्ण है किन्तु जमीनी सच्चाई ऐसी स्थिति से कोसों दूर है। यह स्थिति सचमुच हमारे नवउदारवाद का बदनमा चेहरा है। काले धन और उस की धुरी पर घूम रही राजनीति, अर्थनीति तथा सामाजिक मूल्यों की नैतिक नकारात्मकता का असर समझने के लिये काली अर्थव्यवस्था के वर्तमान रूप और उसके नवउदारवादी दर्शन तथा कॉरपोरेट क्षेत्र की निजी स्वार्थों के लिए संचालित आर्थिक वृद्धि के अंतरंग संबंध की संक्षिप्त चर्चा जरूरी है। यह अवश्य समझ होनी चाहिए कि जैसे कम्पनियाँ अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के गंगाजल में डुबकी लगाकर अपने गुनाहों का प्रायश्चित्त करती हैं उसी भावना से नवउदारवादी सरकारें भी समावेशी आर्थिक वृद्धि का स्वांग भर रही हैं। मानो आदिम संचयन के शिकार लोगों के अभावों और बढ़ती विषमताओं के भयावह साये में जनकल्याण और जन समावेशन का बिरवा पनप सकता है। अगले भाग में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

॥

गंदली अर्थव्यवस्था के इस नए नवउदारीकरणोत्तर संस्करण के सर्वव्यापी, सर्वनाशक स्वरूप और प्रसार की चर्चा करने से पहले यह देखना-जानना जरूरी है कि बाजार और पूंजी को दी गई आजादी के फलस्वरूप इच्छित एक विशुद्ध, पारदर्शी, ईमानदार जनपक्षीय आर्थिक व्यवस्था की आशा क्यों एक गहराती निराशा में बदल रही है। अब ऊँची कर-दर, राजकीय तंत्र के लोगों के निजी विवेक पर आधारित अस्वाभाविक बताये जाने वाले नियंत्रण हटा दिये गये हैं तो फिर रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, कमीशन, दलाली, रंगदारी आदि का सिलसिला सामान्य दस्तूर क्यों बने हुये हैं? माना कि धनी, प्रभावशाली और सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर जुड़े हुए लोगों के अपने लाभ के रास्ते से हटाकर तथाकथित सामाजिक प्राथमिकताओं की ओर प्रवृत्त करना कठिन होता है, खासकर जब स्वयं राजकीय तंत्र को भी ऐसे अनुबंध के निजी हितों हेतु इस्तेमाल की बलवती जरूरत होती है। किन्तु अब ये असाध्य, पूंजी के दृष्टिकोण से अस्वाभाविक समझे जाने वाले, नियमन हटा दिये गये हैं। कर-दरें घटा दी गई हैं। कर-प्रशासन भ्रष्ट करदाताओं को बहुत मित्रवत, भरोसेमन्द मानकर इस नरम कर-व्यवस्था को लागू किया जा रहा है। सामान्य मूलभूत सेवाओं का विस्तार पूंजी, शहरी तथा मध्यवर्ग की जरूरतों के अनुरूप किया जा रहा है ताकि नए पूंजी

संचयन को सहारा मिले। विश्वभर की अधुनातन तकनीकें, पूंजी और सस्ते आयातित साजो-सामान व्यवसायियों को उपलब्ध कराये जा रहे हैं। कानूनी घोषित कर-दरों के लागू करने में प्रोत्साहनों, छूटों, अपवादों तथा विशेष प्रश्रय-समर्थन तजबीजों की इतनी भरमार है कि वास्तविक करदेयता औपचारिक कर-देयता की लगभग ६० प्रतिशत रह जाती है और बिना वसूला कर राजस्व (लगभग ६ लाख करोड़ रुपये) केन्द्रीय बजट की सबसे बड़ी एकल मद बन गई है। यही नहीं औपचारिक-अनौपचारिक, देशी-परदेशी मंचों पर कम्पनी जगत से सरकार बड़े आत्मीय स्तर पर मंत्रणा करती है नीतिगत विषयों पर, ताकि साझी समझ और नीति बन सके। ऐसे अनेक कॉरपोरेट तथा व्यवसाय मित्रवत व्यवहारों के बावजूद और सामाजिक उद्देश्यों की प्राथमिकता को हल्का करने के बावजूद, अभी न केवल कालाधन, काली-अर्थव्यवस्था, घूसपत्तर के रूप में आम आदमी से जबरन वसूली बल्कि उसका एक अति-विकृत रूप, याराना पूंजीवाद, अरबों-खरबों रूपयों के घोटालों के रूप में आधुनिक भारतीय अर्थव्यवस्था की जन्मकुंडलीनुमा पहचान बन गये हैं। भारत में किस तरह नवउदारवादी आदिम संचयन पूर्ण और घोषित रूप से सम्पत्तिवान बड़ी कम्पनियों की पक्षपाती बन गयी है इसका ताजा-तरीन उदाहरण भारत के प्रधानमंत्री के दो बयान हैं। पेट्रोल कीमतों की वृद्धि के समर्थन के साथ कहा जाता है कि हमें बाजार की प्रक्रियाओं को निर्बाध अपना काम करने देना चाहिये। दूसरी ओर कुप्रबंधन के कारण जनता और बैंकों से हजारों करोड़ रुपये का धन डुबाने वाली एक हवाई यात्रा प्रदायक कम्पनी के बारे में प्रधानमंत्री फुर्ती से फरमाते हैं कि हम इस कम्पनी को संकट से उबारने के प्रयास करेंगे। क्या आश्चर्य वैश्विक मानव विकास सूचकांक तालिका में भारत की जगह गिरकर १३४/१८७ हो गयी है?

तथाकथित सुधारों की यह नकारात्मक, निराशाजनक परिणति अनेक बड़े कारणों से निकली है। इनकी संक्षिप्त चर्चा भी यह दिखाने के लिए काफी है कि नवउदारवादी नीतियाँ हमारी समाज व्यवस्था के इन नासूरनुमा बदननुमा घावों की मरहम पट्टी तक नहीं कर सकती है, अपितु विविधतामय सामाजिक शक्ति संचयन के आधार पर अपनी ही जड़ों को मजबूत कर रही है। उससे ऐसे किसी लोकतांत्रिक, आमजन-हितैषी बदलाव की उम्मीद करना भी गलत है। दूसरे तरीके से भी, खासकर राष्ट्रीय आय की तेज वृद्धि को सर्वोपरि राष्ट्रीय लक्ष्य मानने के कारणों और फलितार्थों के नजरिये से देखें तो नवउदारवादी नीतियों के द्वारा कालेधन और अर्थव्यवस्था पर काबू पाने की दुराशा का आधार समझ में आ सकता है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि अपनी आय में महज मात्रात्मक रूप में बिना उसकी संरचना, अभिकर्ता, उत्पादन पद्धति आदि गुणात्मक पहलुओं में सुधार लाये, का उद्देश्य यह दिखाता है कि वर्तमान स्थिति को और ज्यादा बढ़ाया जाये अर्थात् वर्तमान असमानताओं द्वारा आम आदमी के सीमान्तीकरण, काले धन की मात्रा, प्रभाव और कार्यक्षेत्र में विस्तार होता रहे। नवउदारवाद का यह मुख्य उद्देश्य उसके दूसरे, अपेक्षाकृत कमतर उद्देश्य, भ्रष्टाचार और कालेधन के सीमान्तीकरण से असंगत है।

ऐसा अनुमान लगाने के अन्य अनेक आधार सन् १९६१ में मजबूती से अपने पैर जमा चुके थे। काले धन की मात्रा का सही अनुमान न भी हो किन्तु १९६० के दशक के २० से २२ प्रतिशत के अनुमान के स्थान पर उसी किस्म के अनुमान अब उसे राष्ट्रीय आय के लगभग आधे के बराबर मान रहे थे। यह भी सर्वसम्मत धारणा है कि काले धन का एक खास उपयोग ऐसे धन की मात्रा को चक्रवृद्धि दर जैसी तेज रफ्तार से बढ़ाने में होता है। अब नियंत्रणहीन पूंजी पर ज्यादा भरोसे यानी कम कड़ी देखभाल तथा खुली अर्थव्यवस्था के कारण काले धन से काले धन के निर्माण की प्रक्रिया में कमी की संभावना तो शायद ही तार्किक लगे। जितने घोटाले और उनकी बढ़ती राशियाँ उजागर हुई हैं वे इस तर्क के समर्थक तथ्य भी पेश करती हैं। वास्तव में राजनीतिक और प्रशासनिक तबकों के हाथ में आदिमकालीन धन संग्रह प्रणालियों की तर्ज पर भ्रष्टाचार तथा काले धंधों के धुरंधरों द्वारा 'भेंट' चढ़ाये मालमत्ते के कारण नियंत्रक तबके स्वयं अनेक किस्म के व्यापार-व्यवसाय, वित्तीय लेन देनों में लगकर अपनी सामाजिक आर्थिक भूमिका और वर्गचरित्र बदल चुके हैं। अतः रिश्वत, कमीशन, दलाली, भेंट-पूजा आदि के साथ-साथ उनके पास भी गैर-कानूनी और अघोषित सम्पत्ति का संग्रहण बढ़ता जा रहा था। काले धन के प्रति कठोर, दंडात्मक व्यवहार अब उनके लिये अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने जैसा अस्वाभाविक काम हो गया है। ये स्थितियाँ आदिम या शुरूआती पूंजी संचयन के आधुनिक और कलुषित संस्करण मानी जा सकती है।

इस परिवर्तन का असर हुआ कि अब सीधे-सीधे सरकारी राजस्व की चोरी, उसका दुरुपयोग तथा विभिन्न हथकंडों द्वारा और खुद के वेतन तथा सुख-सुविधायें बढ़ाते रहने के अलोकतांत्रिक निर्णयों द्वारा राजकोष की कानूनी और गैर-कानूनी लूट का सिलसिला भी जोर पकड़ने लगा है। ऐसे में काले धन और भ्रष्टाचार के घटने के आसार तो क्षितिज से दूर छिटकते जा रहे थे। सन् १९६६ में लोक-दिखावे को बेनामी सम्पत्ति रोकने-पकड़ने-निरस्त करने का कानून बनाकर उसे ठंडे बस्ते में डाल देना (जो अभी तक वहीं है) हमारे मंतव्य को बल देता है।

इस दौरान कई बार आम माफी, कर-छूट, स्वेच्छा से काले धन के शुद्धीकरण के कानूनी अवसर दिये गये। वित्तीय निवेश को प्रोत्साहित किया गया। मकानात आदि में निवेश के सरल और सुरक्षित अवसर बढ़ाये गये। इनमें काले धन को खपाने के अवसर बढ़ाये गये। सबसे ज्यादा अहम बात यह हुई कि काले धन के राजनीतिक लोगों द्वारा व्यवसायों में लगाने के साथ-साथ उसके राजनीतिक कामों, सत्ता-संघर्ष और जद्दोजहद में खपाने सांसदों की 'नोट फॉर वोट' जैसी कारगुजारियों द्वारा और उसके मधुर प्रतिफल पाने के अवसर और प्रवृत्तियाँ बढ़ी अर्थात् राजनीतिक लोगों द्वारा काले धन का राजनीतिक सत्ता प्राप्ति, उसके सुदृढ़ीकरण और बढ़ाने के लिये इस्तेमाल बढ़ा। कुछ राजनीतिक दल काले धन के ढेर पर बैठे लोगों की निजी सम्पत्ति या जागीर बनने लगे। दलों का आन्तरिक लोकतंत्र हवा हो गया। सब पदाधिकारी ऊपर से हाई कमांड द्वारा नियुक्त किये जाने लगे।

सबसे ज्यादा खतरनाक बात यह हुई कि सारे देश और राज्यों के स्तर पर वामदलों के आंशिक हस्तक्षेप के अलावा शेष दल किसी बड़े आमजन हितकर और राष्ट्रीय न्यायपूर्ण विकास का जनप्रतिबद्धता पूर्ण एजेंडा, व्यवस्था की शुद्धता, पारदर्शिता तथा संवेदनशीलता के लिये राजनीति नहीं कर रहे हैं। दोनों मुख्य दल गैर-बराबरी बढ़ाने वाले घनी तबकों के समर्थक बन चुके हैं। उनका संघर्ष एक दूसरे को ज्यादा भ्रष्ट साबित करना बन चुका है। वामदल अपने एजेंडा को न केवल लागू करने में असमर्थ रहे, उनकी कार्य पद्धति और जंग खाये सोच के कारण उन्होंने अपने हाथ आये अवसरों को भी गंवा दिया। महज सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता जन-समर्थन नहीं जीत सकती है। धन बल के आधार पर चल रही चुनावी राजनीति की तथाकथित मजबूरियों ने लगभग सभी को अपनी गिरफ्त में ले लिया और काले धन और राजनीति के बीच दांत-कटी रोटी का सा रिश्ता बन बया। अब हमारी लोकतांत्रिक राजनीति में कामयाबी का फॉर्मूला या सूत्र बन गया है: येन-केन-प्रकारेण प्राप्त या हथियायी सम्पत्ति से राजनीतिक कर्म संचालित करो, अलग-अलग किस्म के मुखौटे लगाकर। काले धन, माफिया आदि तथा भावनात्मक भरमाऊ मुहावरों नारों और वादों को उछालो, काले धन के निवेश के आधार पर हुल्लड़बाजों, हुड़दंगियों, दबंगों और कुछ प्रभावी लफ्फाजी करने वालों को अपनी जमात में मिलाओ। इस तरह मुफ्त में जमा किये धन को चुनावों में पानी की तरह बहाओ। चुनाव जीतकर या जोड़-तोड़ के आधार पर गठबंधनी सरकार बनाओ और इस तरह प्राप्त सत्ता से जोंक की तरह चिपक रहने की मजबूरी के नाम पर फिर वसूली करो और करने दो। चुनाव सुधार का अर्थ धन बल की जगह सुशासन द्वारा जन-विश्वास जीतना, लोकतांत्रिक मूल्यों का अनुसरण करना नहीं रह गया है। सरकारी खजाने से, यानी जनता के धन से उन्हें बरगलाना, भ्रमित करना और सत्ता से चिपके रहने को चुनाव सुधार कहा जा रहा है। ऐसे स्थिति में कोई सचमुच किस तरह जनपक्षीय ईमानदार प्रतिबद्धतामय नया दल बना ले जो धन बल, राज्य बल, बाहुबल आदि के सामने रूपान्तरणकारी राजनीति करे? क्या यह लोगों को चरम पंथी रास्तों की ओर धकेलना नहीं है? विश्व के सबसे बड़े और तीसरी दुनिया के सबसे टिकाऊ लोकतंत्र की जय-जय के कसीदे पढ़ते रहो। सन् १९९१ में आर्थिक नीतियों को देशी-परदेशी पूंजी की चेरी बनाने के पहले, साथ-साथ और बाद में काले धन की काली राजनीति देश में जड़ें जमाती रही। इस तरह नवउदारवादी आर्थिक नीति के साथ-साथ उसकी सहवर्ती काली राजनीति ने भी अपनी यात्रा का नया चरण शुरू किया। इस यात्रा की मंजिल एक ईमानदार, शीशे के मर्तबान जैसी पारदर्शी और जनहितकारी व्यवस्था होगी यह उम्मीद करना अपने आप से किया छलावा ही हो सकता है।

III

इस सदी के दूसरे दशक की शुरुआत ने हमारी कालिमामय व्यवस्था और कुविकासकारी शक्ति संतुलन को थोड़ा झकझोरा है। मात्रात्मक परिवर्तन कालान्तर में गुणात्मक रूपांतरण

की आधारशिला बनने लगते हैं। घोटालों से हुए अप्रत्यक्ष तथा सर्वव्यापक खामियाजे, मंहगाई रूपी बटमारी द्वारा बाजार की ताकतों की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्तिजनित जनधन की लूट के साथ-साथ लाखों किसान और आदिवासी जमीन, जंगल तथा अन्य समाजी संसाधनों के रूप में अपने और अपनी आने वाली पीढ़ियों के वजूद और पहचान को समाप्त करने वाली लूट के खिलाफ लामबन्द होने लगे हैं। अन्ना-प्रणीत आंदोलन द्वारा भ्रष्टाचार विरोध एक हथियार के समर्थन में जबर्दस्त उबाल लाने लगता है। इसने आम भारतीय के मन में आशा और जोश का संचार किया है। एक फूल खिलने से वसन्त नहीं आ जाता है किन्तु यह मौसम के बदलने का संकेत तो हो ही सकता है। अब काले धन, काले व्यवसायों और काले राजकाज की तिकड़ी के उग्र आंदोलन यह संदेश देने लगे हैं कि वे अब आत्महत्या का पलायनवादी, आत्म-हंता रास्ता धतेड़ कर अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए मैदान में उतर पड़े हैं।

इस शुभ संकेत के बीच नवउदारवादी राजकीय नीतिपीठ के धुरंधर भी अपनी चालबाजी के पैतरे बदल रहे हैं। लम्बे अर्से से भूमि अधिग्रहण और पुनर्स्थापन के लिए एक न्यायपूर्ण कानून बनाने का वादा हवा में लहराया जा रहा है। इस कानून का एक प्रारूप विचार-विमर्श के लिए सरकार की ओर से जारी किया गया था। जनमत चाहे जो आया हो, लगता है जमीन आदि संसाधनों पर गिद्ध दृष्टि जमाये कॉरपोरेट पूंजीशाहों (काली अर्थव्यवस्था के मूल और मुख्य स्रोतों) ने सरकार से अपनी गोटियाँ फिट कर लीं। बिना प्राप्त सुझावों का ब्यौरा दिये सरकारी स्तर पर एक बदला हुआ बिल संसद में पेश किया गया है। केबिनों में एक नये ढंग से संचालित चर्चा (जिसमें रिपोर्टों के अनुसार प्रत्येक मंत्री की एक-एक करके राय मांगी गयी) में औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के हितों को ध्यान में रखते हुए मूल प्रावधानों को न केवल किसान विरोधी, पूंजी-हितैषी बना दिया गया है बल्कि इसके लागू होने, पास होने की प्रक्रिया लम्बी और इसके प्रावधान इतने गोलमोल तथा अस्पष्ट बना दिये गये हैं कि नेताओं-बाबुओं के मनमाने 'विवेक' को भारी छूट मिलती रहेगी। औद्योगीकरण, शहरीकरण यानी कॉरपोरेट पूंजी तथा बिल्डर्स माफिया के साथ अपने पुराने समीकरणों को साधते रहने का सीधा संदेश है: चुनावी राजनीति की मज़बूरी कुछ सुधारों का स्वांग रचने को मजबूर कर सकती है राजकाज के पुरोधाओं को किन्तु एक लम्बी तथा दृढ़ लड़ाई के बिना इस कालेधन, काली राजनीति और प्रशासन के तिलों से तेल निकालना सरल नहीं है।

आदिम या प्राथमिक पूंजी संचयन राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा आर्थिक-सामाजिक सामाजिक इतिहास में प्रचलित एक महत्वपूर्ण पद है जो पूंजीवाद की शुरुआत की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित और स्पष्ट करती है। एम.आई वोलकोव सम्पादित 'ए डिक्शनरी ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी, मोस्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, १९८१, पृ.-२८४-२८५' के अनुसार 'आदिम पूंजी संचयन उत्पादन के साधनों तथा मुद्रा को पूंजी में रूपान्तरित करने की इतिहास में अनुभूत तथा दर्ज वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा स्वयं अपने आप तथा विनियम

प्रक्रिया और उपभोक्ताओं से सीधे जुड़े हुये उत्पादन के अपने साधनों के मालिकों को मजदूरी पाने के लिये कार्य करने के लिये उपलब्ध मजदूरों में तब्दील कर दिया जाता है।'

स्पष्ट है यह सामाजिक संरचना और विभिन्न जनसमूहों के पारस्परिक संबंधों को बदलने की एक अनिवार्य और अहम प्रक्रिया है। इन प्रक्रियाओं को लागू करने के लिये खुल्लम-खुल्ला संगठित समाजव्यापी जोर-जबरदस्ती, धोखे, लूट तथा छलकपट का राज्य द्वारा अपनी ताकत का इस्तेमाल करते हुए किया गया था और सुदूर स्थानों का उपनिवेशीकरण भी इन्ही प्रक्रियाओं का एक भाग था। कार्ल मार्क्स के शब्दों में 'पूंजी का आगमन या निर्माण सिर से पैर तक, यानी पूरी तरह, रोम-रोम तक खून और गन्दगी से लथपथ रूपों में हुआ था।' (कैपीटल, भाग एक, पृष्ठ ७१२) इस तरह भारत जैसे देशों में आज भी प्रारंभिक या आदिम पूंजी-संचयन प्रक्रियाओं का चलन एक अति-आधुनिक कालीन पूंजीवादी परिवर्तन और प्रसार-विस्तार प्रक्रियाओं के एक बहुत संगीन अंतर्विरोध की कहानी कहता है।

विस्थापन की समस्या

हरिराम मीणा

भारतीय स्टील प्राधिकरण लिमिटेड (SAIL) के राउरकेला संयंत्र की स्थापना के एवज में वहाँ के विस्थापित आदिवासियों से जो वादे किये थे, उन्हें असें तक अधर में लटकाये रखा गया। इसकी प्रतिक्रिया में कलिंग नगर में आन्दोलन हुआ। पुलिस की गोलीबारी में मारे गये तेरह आदिवासियों के शवों के साथ बेइज्जती की खबर और नारियल के वृक्षों की बेदर्दी से कटाई के विरोध में भड़के उग्र आन्दोलन को पड़ोसी राज्यों झारखंड व छत्तीसगढ़ से भी समर्थन मिला।

सतपुड़ा, बोटी तथा पंचमढ़ी अभयारण्यों से हुए प्रस्तावित विस्थापन के विरोध में होशंगाबाद जिले के पिपरिया कस्बे में हजारों आदिवासियों ने प्रदर्शन किया। तात्कालिक कारण छुट-पुट वनोपज के उपभोग पर पाबंदी रही थी। यह मुद्दा उक्त तीनों अभयारण्यों को मिलाकर सतपुड़ा राष्ट्रीय बाघ परियोजना से सम्बन्ध रखता है, जिसके भीतर ७५ तथा चारों ओर १०० आदिवासी गांव आते हैं।

नन्दीग्राम में इन्डोनेशिया के सलीम ग्रुप से किये समझौते के आधार पर सुरक्षित आर्थिक क्षेत्र (सेज) के लिए भूमि अधिग्रहण का विरोध वहाँ के आदिवासी व अन्य लोगों ने किया और सरकार को कानून व व्यवस्था की स्थिति का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार टाटा की नैनो कार के कारखाने के लिए भूमि अधिग्रहण के मुद्दे पर सिंगूर क्षेत्र में ऐसी ही स्थिति पैदा हुई।

झारखण्ड पुलिस ने दुमका क्षेत्र में आदिवासियों की आठ से दस हजार की भीड़ पर गोलीबारी की जिसमें लखीराम टुडू की घटना स्थल पर ही मौत हो गयी और करीब दो दर्जन आन्दोलनकारी घायल हो गये। आदिवासियों का यह आन्दोलन आमगाछी व पोखरिया क्षेत्र में १००० मेगावाट का कोयला आधारित ऊर्जा संयंत्र स्थापित करने के विरोध में था। पहले यह आन्दोलन एक माह से शान्ति पूर्ण तरीके से चला लेकिन आदिवासियों की सुनवायी नहीं होने से आगे चल कर उग्र हो गया। इस आन्दोलन के केन्द्र

में प्रमुख कारण क्षेत्र के आदिवासियों की भूमि की अधिग्रहण था जो विस्थापन के मुद्दे से जुड़ा हुआ था।

विस्थापन से सम्बन्धित इन कतिपय समाचारों की पृष्ठभूमि में जब हम विषय प्रवेश करेंगे तो आरम्भ में यह तथ्य सामने आयेगा कि ढाई करोड़ डि-नोटीफाइड और साढ़े आठ करोड़ अनुसूचित आदिवासी, कुल मिलाकर करीब 99 करोड़ की जनसंख्या भारत में है जो फ्रांस व ब्रिटेन की सम्पूर्ण तथा आस्ट्रेलिया की आबादी का चार गुना है। आदिवासियों की सर्वाधिक आबादी अफ्रीका महाद्वीप के पश्चात् भारत में है। भारत के प्रांतों की दृष्टि से मध्यप्रदेश में अन्य राज्यों की तुलना में आदिवासियों का प्रतिशतांक सर्वाधिक है।

अपनी धरती से आदिवासी की जबरिया बेदखली जमीन के एक टुकड़े से एक परिवार के विस्थापन का पर्याय भर नहीं है। यह समस्या पूरी दुनिया में आदिवासी झेल रहे हैं। एक ओर तो कल्याणकारी सरकारें बीच सड़क में बना दिए गए किसी धर्म-स्थान से घबरा कर राष्ट्रीय राजमार्ग तक को मोड़ देती हैं। दूसरी ओर वही सरकारें बड़ी आसानी से विकास का मुखौटा ओढ़ कर अंग्रेजी राज के भूअर्जन अधिनियम, 1958 के हथियार से हजारों आदिवासियों को उनकी जमीनों से बेदखल कर देती है।

यह प्रक्रिया लंबे समय से चल रही है। पहले जमींदारों, औपनिवेशिक ताकतों और बड़े भूस्वामियों की महत्वाकांक्षाओं के कारण, अब खनिज ठेकेदारों, वन-शोषकों और बड़े कारखानों वाले उद्योगपतियों के कारण। वैसे भी आदिवासियों के भूमि संबंधी पुश्तैनी अधिकारों का लेखा-जोखा सरकारों के पास नहीं रहा है।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों के पक्षधर प्रख्यात विद्वान एवं चिन्तक लेवी स्ट्रॉस ऐसे समय दुनिया से विदा (22 नवम्बर, 2006) हुए जब भारत समेत धरती भर की जनजातियाँ 'सभ्यताओं' के परोपकार से बचने का रास्ता ढूँढ रही हैं। शायद आदिवासी अपने समय से पीछे नहीं, गैर-आदिवासी अपने समय से कुछ ज्यादा आगे (पर्यावरण के विनाश के मुहाने तक) चले गए हैं। अंतिम दिनों में लेवी स्ट्रॉस कुछ निराश थे। उन्हें लगने लगा था कि भूमंडलीकरण और सांस्कृतिक एकरूपीकरण का अज़गर जल्द ही जनजातियों के छोटे-छोटे समुदायों को निगल जाएगा।' (ईश्वर दोस्त, जनसत्ता-नवम्बर, 2006)

परम्परागत रूप से आदिवासी-जीवन जंगलों पर आधारित रहता आया है। जंगल और आदिवासी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर फलते-फूलते रहते आये हैं। आजादी के बाद भारत की 9500 बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के कारण 9.6 करोड़ की आबादी विस्थापित हुई। इनमें 80 प्रतिशत आदिवासी थे। इसके प्रमुख प्रभावों में वन केन्द्रित आदिवासियों के जीविकोपार्जन के परम्परागत संसाधनों का छिन जाना और आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर के खतरे के रूप में सामने आये। इस सब की वजह प्रभावी कानूनी प्रणाली की कमी, परियोजनाओं के पीछे विकास के साथ-साथ व्यावसायिक निहित स्वार्थ और विकास के नाम पर अनुचित हस्तक्षेप रहे।

तकनीकी विकास के कारण विकास के नाम पर यह हस्तक्षेप वर्तमान समय में और अधिक आसान और तेज हो गया है। इसके पीछे वैश्विक पूँजी, इस पूँजी पर सवार नव साम्राज्यवाद और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, आई.बी.आर.डी जैसी एजेन्सियाँ हैं जिन्होंने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को तेज कर दिया। ऐसे अधिकतर संसाधन आदिवासी इलाकों में रहे हैं जिनका संरक्षण आदिवासी समाज करता आया है।

१९८० के दशक में विश्व बैंक ने सात अरब डॉलर विकास से सम्बन्धित बड़ी परियोजनाओं के लिए दिये जबकि इस राशि का मात्र पाँचवाँ हिस्सा विश्व के शेष ८५ देशों को दिया। सभी विशाल बाँध परियोजनाएँ विश्व-पूँजी के प्रभाव में रहीं। इनमें से ६० प्रतिशत बाँध परियोजनाएँ उस क्षेत्र में हैं, जहाँ भारत की ८० प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या निवास करती रही है।

केवल बाँध परियोजनाओं की वजह से भारत की करीब ५० से ७० लाख आदिवासी जनसंख्या का विस्थापन हुआ। इसके बाद खनन व अन्य औद्योगिक इकाइयों के कारण विस्थापन का संकट सामने आया। एक अनुमान के तहत प्रति दस में से एक आदिवासी विस्थापन की त्रासदी भोगने को विवश हुआ है।

तथाकथित विकास के इस क्रम में आदिवासी समाज ने अपनी सामूहिक पहचान तथा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत खोयी है एवं उनके बाँटे में और कुछ नहीं आकर गरीबी, कुपोषण, मृत्यु दर में वृद्धि, अशिक्षा, बेरोजगारी, ऋण एवं खेतीहर मजदूरी आयी। वैश्वीकरण के विस्तार के साथ-साथ निजीकरण की प्रक्रिया तेज होने के कारण आदिवासियों को दिये जाने वाले संवैधानिक आरक्षण के लाभ भी मिलने में बाधा आने लगी।

अनेक अध्ययनों से यह निष्कर्ष सामने आये हैं कि ९० के दशक में जिस कदर वैश्वीकरण-निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को अंधा-धुंध तरीकों से लागू किया गया, उसकी वजह से गरीबी ने १५ करोड़ लोगों को प्रभावित किया। इस जनसंख्या की एक तिहाई आबादी आदिवासी-समाज की रही।

नियमित रूप से आदिवासीजन भारतीय समाज का हिस्सा हैं, लेकिन परम्परा एवं संस्कृति की दृष्टि से वे भारतीय समाज से पृथक् हैं। उनके लिए नीति निर्धारण पृथक् से होना जरूरी है तभी उनका विकास सम्भव हो सकेगा, अन्यथा वे लुप्त होती मानव प्रजाति की श्रेणी में ही स्थान पा सकेंगे और भविष्य में 'म्यूजियम' की वस्तु के रूप में स्मृति के स्तर पर शेष रह जावेंगे।

वैश्वीकरण के लाभ जिन व्यक्तियों व राष्ट्रों को मिले हैं उनमें अमरीका, यूरोप, जापान जैसे धनी देश, धनाढ्य व उच्च कौशल प्राप्त व्यक्ति, व्यावसायिक प्रबंधकीय-तकनीकी लोग, लोकसेवा से पृथक् जन, बड़ी फर्म, तकनीकी व पेचीदा प्रक्रिया पर आधारित-उत्पाद के विक्रेता, वैश्विक भद्र वर्ग, बाजारवादी व ब्रांडिंग फर्म एवं जिनको हानि हो रही है उनमें अनेक विकासशील देश, गरीब लोग, निम्न कौशल वाले व्यक्ति, श्रमिक, लोकसेवा पर आधारित व्यक्ति, छोटी फर्म, आधारभूत और मानक वस्तुओं के विक्रेता,

वैश्विक आमजन एवं वे फर्म जिनकी बाजार में पहुंच कम होती है तथा कोई प्रचारित ब्रांड नहीं रखती।

वैश्वीकरण से लाभान्वित होने वाली श्रेणियों में आदिवासी समाज कहीं नहीं टिकता। वह कहीं है तो नुकसान के खाते में ही शामिल दिखायी देता है।

परम्परागत बस्तियों से किसी का भी विस्थापन भारी त्रासदी का कारण बनता है और आदिवासी तो अपना परिवेश किसी भी दृष्टि से नहीं छोड़ना चाहता, चाहे उसे कितने भी प्रलोभन दिये जायें। वह परम्परा व प्रकृति से बंधा हुआ रहता आया है।

बाँध परियोजना, राष्ट्रीय उच्च मार्ग, रेलवे लाईन, खनन-व्यवसाय, औद्योगीकरण, अभयारण्य एवं अन्य कारणों से आदिवासियों का अनिवार्य विस्थापन होता है तो एक तरह से उन्हें अपनी पारम्परिक जमीन व परिवेश से खदेड़ने को विवश किया जाता है। इसकी वजह से उनकी जीविका के आधार भी समाप्त होते हैं। प्रश्न उठता है उनके जीविकोपार्जन के विकल्प तलाश किये जाने का।

उक्तानुसार आदिवासियों का विस्थापन भारतीय संविधान की पाँचवीं सूची के प्रावधानों का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन है, जिसके तहत आदिवासियों को उनकी पुश्तैनी जमीन और प्राकृतिक संसाधनों पर मालिकाना अधिकारों की गारंटी दी गयी है।

यही वजह रही कि आदिवासियों के लिए बनायी गयी राष्ट्रीय नीति में स्पष्ट प्रावधान रखे गये कि विकास की प्रक्रिया में आदिवासियों का विस्थापन कम से कम किया जाए और अगर विस्थापन अति अनिवार्य है तो पुनर्वास के रूप में जीवन का बेहतर स्तर सुनिश्चित किया जाए।

इसीलिए राष्ट्रीय नीति में निम्न प्रावधान रखे गये :

१. भूमि के एवज में कम से कम दो हैक्टर उपजाऊ जमीन जिसमें एक परिवार आसानी से गुजारा कर सके।
२. मछली उत्पादन की जगह मछली उत्पादन हेतु सुविधा।
३. नये स्थान पर आरक्षण के लाभ।
४. वनोपज पर अधिकारों की समाप्ति के बदले अतिरिक्त वित्तीय सहायता जो छः माह से एक वर्ष तक की न्यूनतम कृषि-मजदूरी के समान हो।
५. एक जैसे आदिवासी लोगों को (एक स्थान से विस्थापित) पुनर्वास स्थल एक ही दिया जाये और वह भी जहाँ तक सम्भव हो प्राकृतिक परिवेश में, ताकि उनकी वंश परम्परा एवं सामाजिक-सांस्कृतिक-भाषाई सम्बन्ध अन्यथा प्रभावित नहीं हों।
६. सामाजिक-धार्मिक आयोजनों के लिए भूमि मुफ्त में उपलब्ध करायी जाये।
७. यदि विस्थापन मूल जिला या तहसील से बाहर होता है तो आर्थिक दृष्टि से अधिक मुआवजा दिया जाये।
८. सामूहिक विस्थापन की दशा में नये स्थान पर पानी, बिजली, सड़क, स्वास्थ्य,

सफाई, शिक्षा, उचित मूल्य की दुकान, सामुदायिक केन्द्र, पंचायत कार्यालय आदि सभी सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायें।

भारत की वन नीति में स्पष्ट रूप से जंगलों में रहने वाले आदिवासियों के गांवों को बाकायदा 'वन्य-ग्राम' की संज्ञा दी गई है और यह भी प्रावधान रखे गये हैं कि राजस्व गांवों की तरह सारी सुविधाएँ वन्य गांवों को उपलब्ध करायी जाए जिनमें शिक्षा, चिकित्सा, विद्युत, संचार, सड़क, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, अनाज भण्डार, विकसित कृषि की सुविधाएँ, पशु-चिकित्सालय, बैंक, सहकारी संस्थाएं, छुटपुट वनोत्पाद का उपभोग, बिचौलियों के शोषण से मुक्ति की व्यवस्था आदि-आदि शामिल हो।

आदिवासी विकास की समस्या अत्यन्त जटिल रही है और इसकी एक मात्र वजह यह रही है कि उनके विकास की बात उनकी जीवन शैली, सांस्कृतिक परम्पराओं एवं मनोदशा को ध्यान में रखकर नहीं की गई है। पं. जवाहर लाल नेहरू ने आदिवासी विकास के पंचशील तय किये थे जो निम्न प्रकार से हैं -

१. आदिवासी का विकास उनकी मनोदशा एवं परम्पराओं के आधार पर होना चाहिये। बाहर से थोपी जाने वाली नीति के तहत नहीं। इस क्षेत्र में आदिवासी परम्परागत कला व संस्कृति पर जोर दिया जाए।
२. आदिवासियों के जंगल व जमीन पर अधिकारों का सम्मान किया जाए।
३. प्रशासनिक एवं विकास में आदिवासियों के प्रतिनिधित्व को महत्व दिया जाना चाहिये। तकनीकी विशेषज्ञ शुरुआत में बाहर से लाये जा सकते हैं अन्यथा बाहरी व्यक्तियों के हस्तक्षेप को नहीं के बराबर रखना चाहिये।
४. आदिवासियों के परम्परागत समाज व सांस्कृतिक संस्थाओं के आधार पर ही आदिवासी क्षेत्र में प्रशासनिक व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिये।
५. आदिवासी विकास का मापदण्ड खर्च की जाने वाली राशि एवं विकास के आंकड़ों पर आधारित न होकर विकास की गुणवत्ता के आधार पर होनी चाहिये।

आदिवासी मुद्दों के विशेषज्ञ स्वयं वेरियर एलविन ने भी इस बात पर जोर दिया कि भारतीय समाज के लिए आदिवासियों का जो परम्परागत अवदान है उसका सम्मान किया जाना चाहिये एवं इस अवदान को भारतीय समाज में उत्थान के सहायक के रूप में देखना चाहिए न कि आदिवासी समाज को भारतीय समाज से पृथक ?

आदिवासी विकास के प्रमुख दृष्टिकोण निम्न प्रकार सामने आते हैं

- अ. राजनैतिक दृष्टिकोण - इस दृष्टिकोण से आदिवासी समाज को संविधान में पृथक रूप से पिछड़ावर्ग माना गया है। उनके अधिकारों के संरक्षण एवं विकास के लिए विशेष प्रावधान रखे गये हैं।
- ब. प्रशासनिक दृष्टिकोण- प्रशासनिक दृष्टिकोण राजनैतिक दृष्टिकोण पर आधारित रहा है। इसके लिए आदिवासी कल्याण मंत्रालय, आदिवासी क्षेत्र के विकास

के लिए योजनाएँ, आदिवासी परामर्श परिषद, आदिवासी शोध संस्थान, आदिवासी आयोग आदि की व्यवस्था की गई है।

- स. धार्मिक दृष्टिकोण- धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दू व ईसाई धर्म नायकों द्वारा आदिवासियों के धर्मान्तरण को उनके उत्थान का एक मात्र विकल्प मान लिया गया। इस दृष्टि से पूर्वात्तर राज्यों के सन्दर्भ में ईसाई मिशनरियों की भूमिका सराहनीय कही जा सकती है, लेकिन परम्परागत व सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस तरह आदिवासियों का विकास नकारात्मक स्वरूप ग्रहण करता आया है।
- द. स्वयंसेवी संगठन- स्वयंसेवी संगठनों के दृष्टिकोण से समाज सुधारकों को व गैर सरकारी संगठन के कार्यकर्ताओं द्वारा आदिवासियों को एक तरह से बैशाखी नुमा सम्बल देकर उनके उत्थान की बात कही जा रही है। आदर्शवादी मानवतावाद इस केन्द्र में रहा है।
- य. नृतत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण- इस दृष्टि से आदिवासियों के उत्थान की समस्याओं को विद्वानों ने समझने का प्रयास किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि जब तक आदिवासी समाज भारतीय मुख्य समाज का हिस्सा नहीं बनता तब तक आदिवासी जन अलग-थलग रहेंगे और जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक आदिवासियों का विकास सम्भव नहीं है। इसके लिए बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाना होगा जिसका आधार नृतत्वशास्त्रीय अध्ययनों के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण आदिवासी परम्परा व मनोदशा को समझने में सहायक हो सकता है। लेकिन भौतिक विकास के साथ उनके समृद्ध परम्परागत मूल्यों के संरक्षण की समस्याओं का समाधान नहीं करता। इस दृष्टिकोण का प्रमुख जोर राष्ट्र समाज के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी उत्थान को देखने पर है। प्रो. राय वर्मन एवं डा. बी.डी.शर्मा जैसे विद्वानों ने आदिवासी विकास की कुंजी गाँधीवादी दर्शन में तलाशने के प्रयास किये हैं।

मार्क्स ने लिखा है कि 'किसी भी समाज में परिवर्तन के लक्षण भीतर से हो, उसके पहले ही उस पर बाहर से परिवर्तन लाद दिया जाये तो वह समाज एक किस्म के सांस्कृतिक अवसाद में (cultural melancholy) जीने को बाध्य हो जाता है।' आदिवासी विकास का मुद्दा कुछ इस तरह का है और इसलिए विकास के ऐसे मॉडल को आदिवासी अपनाने से झिझकता है।

पं. जवाहर लाल नेहरू ने विकास के नीति निर्देशक तत्व तय किये। उनके सन्दर्भ में आदिवासी विकास के मुद्दों को देखना चाहिए, लेकिन वैश्वीकरण के इस दौर में यह समस्या और जटिल हो जाती है? वहाँ आदिवासी सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण, विकास, आदिवासियों की हिस्सेदारी एवं प्रशासनिक स्वायत्ता के मुद्दों, भू-मण्डलीय वातावरण एवं दबावों से पृथक् कैसे रखा जाए यह सबसे बड़ा प्रश्न हमारे सामने है।

छत्तीसगढ़ में विस्थापन का एक अनूठा उदाहरण सामने आया जिस पर विमर्श होना चाहिए।

आदिवासी बहुल इस प्रांत की २७ प्रतिशत आदिवासी आबादी बस्तर जिला में रहती है। बस्तर की कुल आबादी का ७० प्रतिशत आदिवासी हैं जिनमें अधिकांश लोग घने जंगलों में रहते हैं। इसी क्षेत्र में गत करीब २५ वर्षों से माओवादी संगठन सक्रिय रहे हैं।

‘सल्वा जुडुम’- नामक एक आन्दोलन वहाँ चला जो माओवादी नक्सलियों के विरोध में था। नक्सलवादियों द्वारा तथाकथित सत्ताये गये आदिवासियों, उनके मुखिया, सूदखोर आदि को सरकार द्वारा विशेष पुलिस अधिकारी नियुक्त किया गया और इस आन्दोलन का नेतृत्व उन्हें सौंपा गया।

‘सल्वा जुडुम’ अर्थात् लोगों का (तथाकथित) संयुक्त मिशन। तथ्य यह सामने आया कि जब से ‘सल्वा जुडुम’ आन्दोलन आरम्भ हुआ तब से वर्ष २०११ के मध्य तक उस इलाके में २५० आदिवासियों की हत्या हुई, १०० आदिवासी महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार हुआ, आदिवासियों के ३००० घर जलाये गये। यह सब ६०० आदिवासी गाँवों में हुआ और परिणामस्वरूप ५०,००० आदिवासी विस्थापित होने को विवश कर दिये गये, जो पुनर्वास शिविरों में रहने की त्रासदी भोगते रहे।

राज्य समर्थित इस आतंक की तह में था आदिवासी क्षेत्र (दांतेवाड़ा) में टाटा कम्पनी द्वारा ‘आयरन ओर’ का खनन। टाटा के अलावा क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए अमरीकी कम्पनी ‘टेक्सास पावर कॉरपोरेशन’ से भी समझौता किया गया। कुल मिलाकर छत्तीसगढ़ सरकार ने विभिन्न खनन कम्पनियों से १३० लाख डॉलर के समझौतों पर हस्ताक्षर किये।

माओवादियों की सक्रियता के कारण छत्तीसगढ़ सरकार के लिए बहुत मुश्किल था कि इस आदिवासी क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की राह आसान कर सके। इसलिए-‘सल्वा जुडुम’ जैसे ऑपरेशन आरम्भ किये गये या कहें, करवाये गये। निश्चित रूप से नक्सलियों ने इसका विरोध किया था और आदिवासियों में से अधिकांश ने उनका साथ अपने हितों की दृष्टि से ही दिया होगा। (इसका यह अर्थ नहीं कि हम हिंसक नक्सलवाद का समर्थन करते हैं)

इस अनूठे विस्थापन और राज्य संचालित आतंक के विरोध में स्थानीय आदिवासी एकजुट हुए और उन्होंने ‘सल्वा जुडुम’ के अत्याचारों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया। ‘सल्वा जुडुम’ के पीड़ितों की सहायता के लिए एक समिति का गठन किया गया जिसका नाम था ‘क्रान्तिकारी संगीत दल,’ जो आदिवासियों के दुःख: दर्दों से आपूरित गीतों को गा-गा कर सुनाने लगा। इस दल ने छत्तीसगढ़ ही नहीं, देश के दर्जनभर प्रांतों के आदिवासी इलाकों में भ्रमण किया। तथ्य यह सामने आया कि ५०,००० आदिवासियों को बल पूर्वक शरणार्थी शिविरों में रहने के लिए ‘सल्वा जुडुम’ ने बाध्य किया, जहाँ जीने के

लिए आधारभूत सुविधाओं का अभाव था और जो 'सल्वा जुडुम' के विशेष पुलिस अधिकारियों के घेरे में रहने को विवश थे ताकि यन्त्रणा शिविरों से भाग भी न सकें।

हालात की गम्भीरता प्रचारित-प्रसारित हुई और आखिर बुद्धिजीवियों का एक दल जाँच करने बस्तर गया जिसमें इतिहासकार रामचन्द्र गुहा, (बंगलूरु) 'प्रभात खबर' के संपादक हरिवंश, (राँची) लेखक एवं सामाजिक कार्यकर्ता फराह नकवी (दिल्ली) भारत सरकार के सेवा निवृत्त सचिव ई.ए.एस. सरमा (विशाखापतनम्), दिल्ली विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग की प्रोफेसर नन्दिनी सुन्दर और 'इन्डियन एक्सप्रेस' व 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के पूर्व सम्पादक वी.जी. वर्गीस भी शामिल थे।

इस दल ने निष्कर्ष निकाला कि बस्तर के आदिवासियों की दशा बहुत खराब है। 'सल्वा जुडुम' के नाम से जो तथाकथित 'शांति खोज' का सरकारी ऑपरेशन चलाया गया वह आदिवासियों पर अत्याचारों का नायाब उदाहरण है जो आश्चर्यजनक है।

ध्यातव्य है कि सर्वोच्च न्यायालय ने (जुलाई २०११) के निर्णय में सल्वा जुडुम के कदम को अवैधानिक करार दिया है।

गत एक दशक में औद्योगिक परियोजनाओं की वजह से केवल चार प्रांतों आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड और ओडिशा में १४ लाख लोग विस्थापित किये गये। 'एक्शन एंड इण्डियन सोशियल इन्स्टीट्यूट' और 'लाया' संगठन द्वारा किये गये सर्वेक्षणों से यह तथ्य सामने आया। सर्वे-क्षेत्रों में विस्थापितों का ७६ प्रतिशत अनुसूचित आदिवासी थे जबकि भारत की कुल आबादी का आदिवासी लोग मात्र ८.६ प्रतिशत हैं। विस्थापन के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन, जीविका, पुश्तैनी आवास और पूजा-स्थलों के साथ-साथ प्रकृति और वन्य जीवों के परिवेश से बेदखल होना पड़ा। इसके साथ-साथ उनके कुएँ, श्मशान स्थल, तालाब, नदी, झरने आदि छूट गये और उन्हें अपनी जीवन शैली बदलने की मजबूरी सहनी पड़ी जो उनकी हजारों वर्षों की परम्परा को छिन्न भिन्न करने का कारण बना। सर्वाधिक नुकसान हुआ उनकी सामूहिकता और सामाजिक सुरक्षा को। इस सबके लिए इस क्षेत्र में केवल चार ही परियोजनाएँ उत्तरदायी रहीं जो हैं- वेदांत रिफाइनरी (ओडिशा), पोल्लवरम बाँध (आंध्र प्रदेश), टाटा आइरन ओर (छत्तीसगढ़) और सुवर्ण रेखा परियोजना (झारखंड)।

इन सर्वेक्षणों से यह तथ्य सामने आया कि ६६ प्रतिशत विस्थापितों का पुनर्वास सरकार के स्तर पर नहीं किया गया और उन्हें अपने हाल पर जीवन गुजारने को विवश होना पड़ा। विस्थापितों में से ८६ प्रतिशत ने अन्य जागरूक लोगों के सहयोग से इस विस्थापन का आरम्भ से तीव्र विरोध किया।

इस संदर्भ में एक विडम्बना यह रही है कि विकास के नाम पर सम्भावित विस्थापन का विरोध उस सोपान पर आरम्भ होता है जब सारे निर्णय लिये जा चुके होते हैं। इसकी वजह यह है कि इस तथाकथित विकास का माध्यम या लाभकारी पक्ष (सरकारी या निजी) परियोजना सम्बंधी नीति-निर्धारण की प्रक्रिया से आरम्भ से जुड़ा रहता है और

जिन लोगों की कीमत पर यह सब कुछ होने जा रहा होता है, उन्हें अन्त में पता लगता है कि उन्हें बेदखल करने का फैसला सरकार ने राज्य, केन्द्र और विश्व स्तर पर ले लिया है। उल्लेखनीय है कि ऐसे निर्णयों की प्रक्रिया बहुत लम्बी होती है। इन चार परियोजनाओं के मामले में जमीन अधिग्रहण सम्बन्धी कुल २२,७५५ गजट नोटिफिकेशन और ३६३० अन्य राजकीय दस्तावेज तैयार किये गये। अगर तथाकथित मुख्यधारा से किन्हीं व्यक्तियों से सम्बन्धित कोई मुद्दा होता तो पहले ही दस्तावेज की प्रति उन तक पहुँच जाती और वे लोग ऐसे मामले को अदालतों में उलझा देते और दशकों तक फैसला नहीं होने देते या अपने पक्ष में करवा लेते। मगर अपनी अलग-थलग दुनिया में रहते आये आदिवासियों को यह सब करना नहीं आता। उन्हें यह पता लगना कठिन होता है कि उनके विरुद्ध कौन और कहाँ षडयन्त्र रच रहा है ?

आदिवासी कल्याण एवं विकास के लिए निर्मित राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य डॉ. डी. स्वामीनाथन द्वारा तैयार किये गये प्रारूप पत्र के आरम्भ में उन्होंने स्वीकार किया है कि 'निश्चित रूप से विगत अर्से में आदिवासियों की स्थिति में सुधार हुआ है लेकिन गैर आदिवासियों की तुलना में इनकी हालात हर क्षेत्र में खराब हुई।'

केवल विस्थापन के कारण आदिवासी उत्थान की अन्य सारी गतिविधियाँ बाधित हो जाती हैं चाहे वह शिक्षा, स्वास्थ्य, पेय-जल, सड़क, संचार, आवास और जीविकोपार्जन आदि किसी भी अहम् मसले से जुड़ी हुई क्यों न हों।

डॉ. स्वामीनाथन द्वारा तैयार किये गये प्रारूप पत्र में बड़े चौकाने वाले तथ्य सामने आये हैं। औद्योगीकरण और विकास से सम्बन्धित विभिन्न परियोजनाओं के कारण आजादी से वर्ष १९६० तक की अवधि में जो आदिवासी विस्थापित हुए उनका पूरी तरह पुनर्वास नहीं हुआ। विस्थापित आदिवासियों की कुल संख्या ८५.३६ लाख रही जो कुल विस्थापितों का ५५.१६ प्रतिशत थी। विस्थापित आदिवासियों में ६४.२३ प्रतिशत अब भी पुनर्वास से वंचित हैं। निश्चित रूप से अपनी जड़ व जमीन से उखड़ी यह अपुनर्वासित मानवता झोंपड़-पट्टियों व फुटपार्थों के सहारे रहती है या फिर शरणार्थियों अथवा डेराबन्द घुमक्कड़ी जीवन जीने को विवश है।

ऐसी बड़ी संख्या के मनुष्यों के दिलो-दिमाग में उनकी लम्बी परम्परा, संस्कृति, मूल्य-व्यवस्था, कला, प्रकृति प्रेम, श्रम की महत्ता, सामूहिकता, वन्य जीवों का परिवेश, सुरक्षित परिवेश, निश्चितता, अल्हड़पन, मस्ती एवं सबसे ऊपर उनकी स्मृतियाँ और स्वप्न आदि को लेकर क्या कुछ घटित हो रहा होगा-इस सबका अंदाज हर कोई कैसे लगा पायेगा?

डेविड पुष 'इन्टरनेशनल लीग ऑफ पिपुल्स स्ट्रगल,' से सम्बन्धित रहे हैं। विस्थापन सम्बन्धी कुछ तथ्यों का जिक्र उन्होंने अपने अध्ययन में किया है।

महाराष्ट्र के न्यू मुम्बई में रिलायंस सुरक्षित आर्थिक क्षेत्र (सेज) के कारण २,५०,००० व्यक्तियों के विस्थापन की सम्भावना हुई। कुल ३५००० एकड़ भूमि के

अधिग्रहण का तीव्र विरोध हुआ।

झारखण्ड की एन.टी.पी.सी (नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन) परियोजना के कारण कनकपुरा घाटी के १८६ गांवों के कुल ३ लाख में से २ लाख लोगों पर विस्थापन का संकट गहराया। नवम्बर, २००६ में १०,००० आदिवासियों ने एकत्रित होकर इसका विरोध किया। जैसे ही एनटीपीसी ने अपना दफ्तर खोला ३००० की भीड़ ने उसे नष्ट कर दिया। एक तरफ परियोजना को सफल बनाने की जिद रही है दूसरी ओर विरोध अभी भी जारी रहा।

ओडिशा के जगतसिंहपुर क्षेत्र में पोस्को (कोरिया की कम्पनी) को राज्य सरकार ने आइरन ओर के प्लांट हेतु ४००० एकड़ जमीन दी। २२,००० लोगों पर विस्थापन की तलवार लटकी जिसका विरोध हुआ और सम्भावित विस्थापितों ने प्रभावी नाकाबन्दी की ताकि इलाके में कोई प्रवेश न कर सके।

छत्तीसगढ़ में विभिन्न परियोजनाओं से सम्बन्धित करीब ३ लाख आदिवासी विस्थापितों की लड़ाई डॉ. बिनायक सेन लड़ रहे थे। उन्हें जेल में ठूस दिया। ता. १६ अप्रैल २००६ के 'हिन्दू' अखबार में डॉ. सेन की अवैध हिरासत के विरोध में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश वी.आर. कृष्णा अय्यर द्वारा भारत के प्रधानमंत्री के नाम लिखा लम्बा पत्र छपा जिसमें स्पष्ट बताया गया कि ऐसी हिरासत भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरा है। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय ने डॉ. सेन को मुक्त करने के आदेश दिये।

अमानवीय विस्थापन के विरुद्ध मुंह खोलने वालों का यह हथ्र होना हर किसी को विचलित कर देगा।

डेविज पुष का निष्कर्ष निम्न प्रकार है -

१. बाँध, औद्योगिक इकाइयों, खनन और सेज के कारण आगामी एक दशक में करीब एक करोड़ लोगों के विस्थापित होने की सम्भावना है।
२. विस्थापन का प्रतिरोध करने की भारतीय लोगों में अकूत ताकत है।
३. विस्थापन के सत्य को लेकर भारत सरकार (केन्द्र व राज्य) तथ्यों के बारे में गलत बयानी करती है और सही आन्दोलन को सशस्त्र बलों द्वारा कुचलने का अन्यायपूर्ण कार्य करती है।

पूर्वोत्तर भारत में विस्थापन की समस्या को लेकर प्रो. मोनीरूल हुसैन (गोहाटी विश्व विद्यालय) द्वारा लिखित शोधपरक महत्वपूर्ण पुस्तक में उस क्षेत्र के विस्थापन को लेकर विस्तार से लिखा है।

भू-अधिग्रहण अधिनियम के तहत विकास के नाम पर विस्थापितों की भूमि अधिग्रहित की जाती है। इस कानून को प्रो. हुसैन ने सामन्तवादी कानून कहा है। उनका प्रश्न है कि भूमि अधिग्रहण सम्बन्धी कानून जितना ताकतवर है उतना जिम्मेदार कानून पुनर्वास सम्बन्धी क्यों नहीं है ? इनकी इस बात में दम है, चूँकि अब तक देश में किसी भी बड़ी परियोजना के एवज में विस्थापितों का पूरा एवं संतोषप्रद पुनर्वास नहीं हुआ है।

उनका यह भी तर्क है कि जिस मकसद से विशाल परियोजनाएं लागू की जाती हैं, वह मकसद इन परियोजनाओं के लागू करने से पूरा नहीं होता। दूसरे, विस्थापन का मुद्दा भूमि अधिग्रहण तक ही सीमित नहीं रहकर विस्थापितों की जीविका, संस्कृति व समुदाय तक को तहस-नहस कर देता है। पूर्वोत्तर के विशेष सन्दर्भ में प्रो. हुसैन का यह भी कहना है कि बड़ी परियोजनाओं को लागू करने की बजाय उन्हें भंग कर भूमि को पुनः सम्बन्धित विस्थापितों को देने से राज्य व विस्थापित दोनों को लाभ मिलता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दुम्बर परियोजना को भंग करने का दृष्टांत सामने रखा। त्रिपुरा की जल ऊर्जा परियोजना द्वारा आशा से कम विद्युत उत्पादन के कारण उसे बन्द कर अधिगृहीत भूमि को विस्थापित आदिवासियों को वापस देना कुल मिलाकर लाभदायक रहा न कि परियोजना को चालू रखना।

विस्थापन को लेकर यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है कि जिन लोगों का विस्थापन होता है, सम्बन्धित परियोजना से उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। यह पक्ष भी विचारणीय है।

जून २००८ में रंगानदी जल परियोजना के कारण वर्षा के पानी की अधिक आवक को देखते हुए एक दम पानी को छोड़ने से भयंकर बाढ़ आयी जो परियोजना न होती तो इतने विनाशक रूप में सामने नहीं आती। असम के मुख्यमंत्री ने इस बात को स्वीकार किया।

अरुणाचल प्रदेश की सरकार ने विकास के नाम पर इस तरह के विस्थापन की गलत नीति की हकीकत को स्वीकार करते हुए गत वर्षों में यह निर्णय दिया कि भविष्य में कोई बड़ी जल ऊर्जा परियोजना नहीं बनायी जावेगी। यद्यपि केन्द्र सरकार के दबाव के चलते उसे कितने समझौते करने पड़ रहे हैं, यह अलग बात है लेकिन विकास और विस्थापन की सच्चाई तो वहीं की वहीं रहेगी।

अंत में, किसी भी राष्ट्र-समाज का जो तबका सभ्यता या कहें, विकास की दौड़ में पीछे रह गया है, कौन नहीं चाहेगा कि उसे आगे बढ़ाया जाये? लेकिन जब इस प्रयत्न और प्रक्रिया के केन्द्र में किसी विकसित और चालाक वर्ग को लाभ पहुँचाने की साजिश की जाती है और पिछड़े तबके के विकास के नाम का ढोल पीटा जाता है तो इसका पुरजोर विरोध सभी जागरूक इन्सानों को करना चाहिए। ऐसी स्थिति 'विकास के नाम पर विस्थापन' की वजह से पैदा होती है न कि सही अर्थ में विकास के कारण। जब दूरदृष्टि सम्मत विकास के लिए विस्थापन अनिवार्य हो, तो पुनर्वास केन्द्रीय लक्ष्य बन जाता है जिसे पुनर्वास नीति के प्रावधानों के तहत पूरा किया जाना चाहिए।

क्या सोम्पेटा नंदीग्राम की राह बढ़ रहा है?

पुष्पराज

पालतू गुंडों और शिकारी कुत्तों से कौन डरता है...?

हिंदी पट्टी का प्रगतिशील तबका जनकवि बाबा नागार्जुन का जन्मशताब्दी वर्ष मना रहा है। तेलुगू भाषी आंध्र प्रदेश में 'नागार्जुन' नामधारी एक औद्योगिक घराना किसान-मछुआरों पर हमले की क्रूरता के लिए चर्चे में है। हमारे बाबा नागार्जुन आज होते तो इस गरीबद्रोही नागार्जुना के खिलाफ कविता का विस्फोटक हस्तक्षेप जरूर करते।

मुझे मेल से जानकारी मिली थी कि आंध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम् इलाके में एक पावर प्लांट का विरोध कर रहे किसानों पर गोली चली है, जिसमें २ किसान मारे गये हैं और १५० से ज्यादा घायल हैं। इस सूचना से हम दुखी हुए थे पर विचलित नहीं। हमारे मुल्क में गरीब और सबसे कमजोर तबके पर हमला कौन-सी आश्चर्यजनक घटना है कि पल-पल विचलित होते रहें? २१ जुलाई की देर-रात हैदराबाद के अधिवक्ता और जनांदोलनों के पूर्णकालिक कार्यकर्ता श्रीकांत ने मुझे सूचना दी कि २४ जुलाई को श्रीकाकुलम् के सोम्पेटा में १४ जुलाई को मारे गये किसानों की याद में शोक सभा सह प्रतिवाद सभा का आयोजन है। इस प्रतिवाद सभा में संग्रामी कृषक-मछुआरों ने नंदीग्राम डायरी के लेखक को क्यों बुलाया है? नंदीग्राम को न्याय दिलाने में असफल रहा लेखक श्रीकाकुलम् के संग्राम को लिखेगा, शोक में साथ होकर आंसू बहायेगा, क्या रोने के लिए हमारे पास आंसू भी शेष नहीं हैं?

पटना एरनाकुलम् से हम श्रीकाकुलम् की बजाय पलाशा उतरे। (इधर तेलुगू में एक-एक शब्द संस्कृतनिष्ठ हैं पर उनका यथार्थ प्रकृति से जुड़ा है। पलाशा के फूल देखिये और पलाशा में पांव रोपिये) पलाशा रेलवे स्टेशन से हमें संग्राम के हृदय केन्द्र सोम्पेटा की बस पकड़नी है। रात के पौने नौ बजे पलाशा स्टेशन से बस अड्डे की तरफ किस तरह जायें? चप्पे-चप्पे में पुलिस है। जितने वर्दीधारी हैं, उससे ज्यादा वर्दी के बिना हैं। आप तेलुगू

नहीं जानते हैं, इतना काफी है, यह प्रमाणित करने के लिए कि आप संदिग्ध हैं। रेल में एक सहयात्री ने मुझे सलाह दी थी कि बस अड्डा पास है पर रास्ता थोड़ा टेढ़ा-मेढ़ा है। बेहतर है कि आप ऑटो लीजिये और बस अड्डे आराम से पहुँच जाइये। ऑटो वाले ने २५० से १५० की मांग कर दी और इस चेतावनी के साथ कि अगर पैदल बढ़ने की कोशिश की तो रेल से उतरने वाले हर एक पर पुलिस की नजर है। कंधे के बजाय बड़े बैग को सर के ऊपर, छोटे बैग को बड़े बैग के ऊपर रखिये। जूते जो पांव में हैं, उन्हें खोलिये, हाथ में लीजिये तो नंगे पांव सर पर बैग ढोते कलम मजदूर की शक्ति मजदूर में बदल गयी। अपनी हिफाजत के लिए वेश, रंग-रूप बदलने का अपना अधिकार तो अपने पास ही है। घंटे भर में बस सोम्पेटा पहुँची तो सोम्पेटा बस अड्डे में एक मारुति कार से एक अनजान युवक ने हमारी तरफ हाथ बढ़ाया। वह हिंदी-अंग्रेजी कुछ भी नहीं बोलता है। उसके दूसरे हाथ में एक कागज है, जिस पर मेरा मोबाइल नंबर लिखा है। हम उसके साथ हुए और आगे बढ़ते गये। इस समय आतिथेय की प्रकृति पर संदेह की कोई बात नहीं है। पुलिस के दमन के विरुद्ध जो लिखेगा, वह पुलिस का शत्रु होगा। हम जिनके मित्र हैं, वे हमारी हिफाजत के प्रति सचेत-चौकस हैं।

जिला मुख्यालय श्रीकाकुलम् से १०० कि.मी. और हैदराबाद से ८०० कि.मी. की दूरी पर स्थित सोम्पेटा बाहरी चकमक से किसी औद्योगिक नगरी की तरह चमकता है। सोम्पेटा अपने आजू-बाजू के ५ मंडलों का मुख्य बाजार है। तेलुगू जुबान में ब्लॉक को मंडल कहते हैं। सोम्पेटा मंडल का मुख्यालय ५ मंडलों को नमक-तेल, दवा-दारू देने वाला सबसे बड़ा बाजार है। जिस बाजार पर ६ लाख मनुष्यों का जीवन टिका हो, उसका स्वरूप किसी टाउनशिप (उपनगरी) की तरह होना स्वाभाविक है। बंगाल की खाड़ी के किनारे बसा सोम्पेटा का ग्राम्य जीवन धान, नारियल, मछली के साथ-साथ काजू उत्पादकता पर टिका है। २००८ के शुरुआती माह में कांग्रेस नेतृत्व वाले आंध्रप्रदेश सरकार ने सोम्पेटा के बीला वेटलैंड इलाके में नागार्जुना कंस्ट्रक्सन कंपनी को २६४० मेगावाट क्षमता वाले थर्मल पावर प्लांट लगाने की स्वीकृति दी। नागार्जुना कंस्ट्रक्सन कंपनी ने इंडोनेशिया से आयोजित कोयले पर आधारित प्रस्तावित थर्मल पावर प्लांट सोम्पेटा में स्थापित करने की योजना इसलिए बनायी कि सोम्पेटा समंदर के किनारे है तो कोयला जलीय मार्ग से सस्ते में प्राप्त होगा, मुफ्त में जल का विस्तृत स्रोत उपलब्ध है। सरकार बीला का पूरा वेटलैंड मुफ्त में उपलब्ध करा रही हो तो पावर प्लांट स्थापित होने का स्वप्न जल्दी ही मूर्त रूप लेगा।

आंध्रप्रदेश इंडस्ट्रीज इंफ्रास्ट्रक्चर कॉरपोरेशन (ए.पी.ई.ई.सी.) ने बीला वेटलैंड के ६७२ एकड़ जमीन का स्वामित्व राजस्व विभाग से नागार्जुना कंपनी को स्थानान्तरित कराया। बीला इलाके के गरीब भूमिहीनों को सरकारी योजना की तहत कुछ वर्ष पूर्व वितरित किये जमीन को राजस्व कर्मचारी और अधिकारियों ने मिलकर गलत तरीके से नागार्जुना को दिलाने में बड़ी भूमिका निभायी। इस तरह से गरीब किसानों को फुसलाकर-डराकर नागार्जुना ने ८० हजार रु. प्रति एकड़ की दर से ६०० एकड़ जमीन

खरीदी। नागार्जुना कंपनी ने १५०० एकड़ से ज्यादा जमीन का स्वामित्व लेने के बाद अब कार्ययोजना को असली जामा पहनाने की कोशिश शुरू की। फरवरी २००८ में सोम्पेटा के प्रतिष्ठित चिकित्सक डॉ. वार्ड. कृष्णमूर्ति की अध्यक्षता में पर्यावरण परिरक्षण संगम स्थापित हुआ। पर्यावरण परिरक्षण ने कृषि, बागवानी, मछली के साथ पर्यावरण के ताने-बाने को जोड़ते हुए पावर प्लांट से होने वाले लाभ-नुकसान का तथ्यपरक अध्ययन शुरू किया तो किसान-मछुआरों के बीच पावर प्लांट के विरुद्ध हवा तेज होने लगी। मछुआरों ने मत्स्यकारा इक्या वेदिका (फीस वर्क्स यूनाइटेड फोरम) खड़ा किया। पर्यावरण परिरक्षण के साथ वकील, शिक्षक, व्यवसायी और समाज के बौद्धिक वर्ग का समर्थन प्राप्त हुआ जो मत्स्यकारा इक्या वेदिका भूमिहीन, मछुआरों, श्रमिकों का एकजुट मंच हो गया। १० किलोमीटर वर्ग क्षेत्रफल में पसरे बीला वेटलैंड पर ढाई लाख कृषक मछुआरों का जीवन निर्भर है। ४० हजार मछुआरों की जिंदगी बीला और समंदर की मछली पर टिकी है। बीला के चारों तरफ २४ गांवों के किसानों के ११ हजार एकड़ में ७ लाख से ज्यादा नारियल के पेड़ और दो हजार एकड़ में खड़े ७० हजार से ज्यादा काजू के पेड़ इसी बीला वेटलैंड की नमी और आर्द्रता पर खड़े हैं। पर्यावरण परिरक्षण ने आंध्रप्रदेश के शिक्षाविदों, पर्यावरणविदों के सहयोग से नागार्जुना पावर प्लांट की स्थापना से होने वाले प्रभाव का जो अध्ययन कराया, वह बहुत ही भयावह और खौफनाक था। सोम्पेटा पास के माणिक्यापुरम्, गोल्लागंडी, कुत्तुमा गांव के लोग शुरू में नागार्जुना के विरुद्ध गोलबंद होकर मुखर हुए थे। धीरे-धीरे २४ गांवों की आबादी अपने नारियल बगान, काजू बगान, धान, मछली और जीवन को बचाने के मुद्दे पर संघर्ष में शामिल हो गये। पावर प्लांट से होने वाले प्रदूषण से समंदर किनारे २० कि.मी. तक मछलियां भी नहीं मिलेगी, इस पर्यावरणीय समीक्षा से मछली पर टिके मछुआरे भविष्य के प्रति शंकित हो गए। जब बीला पर नागार्जुना का कब्जा हो जायेगा तो २४ गांवों के ये ७ लाख नारियल, ७० हजार काजू के गाछों की सांस रुक जायेगी। हरे गाछ सूख जायेंगे और २४ गांवों के ढाई लाख लोगों की जिंदगी बेजार हो जायेगी।

नागार्जुना कंपनी को तब ज्यादा बल मिल गया जब केन्द्र सरकार ने ६ दिसंबर, २००६ को पर्यावरणीय मंजूरी दे दी। श्रीकाकुलम् के जिलाधीश ने सोम्पेटा मंडल के भू-राजस्व अधिकारी के मेलजोल से केन्द्रीय पर्यावरण मंत्रालय के अधीनस्थ कार्यरत राष्ट्रीय पर्यावरण पुर्नविचार प्राधिकरण (नेशनल इन्भारमेंटल अपील्ट ऑथोरिटी) दिल्ली को भेजी गयी। रिपोर्ट में नागार्जुना के लिए अधिगृहीत की गयी जमीन को “खेती के लिए अनुपयोगी और बेकार” बताया था। श्रीकाकुलम् के जिलाधीश और आंध्रप्रदेश सरकार की झूठी रिपोर्ट ने नागार्जुना को पर्यावरणीय मंजूरी दिलायी। जब जमीन अपने पास हो, राज्य सरकार की पूरी ताकत अपनी पीठ पर हो और केन्द्र सरकार की पर्यावरणीय मंजूरी भी दूसरे हाथ में तो तन कर खड़ा होने से कौन रोकने वाला है? सोम्पेटा के ग्रामीण इलाके में नागार्जुना ने पावर प्लांट से होने वाले विकास के लिए जन-जागरण अभियान तो एक

साल पहले से चला रखा था। ३० अप्रैल, २०१० को नागार्जुना ने भूमि पूजन की योजना बनायी और अपनी नींव शुरू करने के लिए सादे लिबास में १०० के करीब भाड़े के गुंडे और मनुष्यों को देखते ही नोच खाने वाले कुछ शिकारी कुत्ते साथ लाये। मोटे-तगड़े ये शिकारी कुत्ते ४ या ६ की संख्या में थे, जिन्हें गांवों में छोड़ा गया तो गरीब असहाय गांव छोड़कर भागने लगे। कुत्ते काट खाने के लिए दौड़ रहे हैं और गुंडे डरा-धमका रहे हैं। पर्यावरण परिरक्षण और मत्स्यकारा के सचेत कार्यकर्ताओं ने विवेक से काम लिया। कुत्तों के आगे बिस्कुट और मांस के टुकड़े फेंके तो भाड़े के अप्रशिक्षित गुंडों की आंख पर मिर्च के पाउडर छिड़कते गये। नागार्जुना का भूमि पूजन संभव नहीं हो सका। अप्रशिक्षित गुंडे शिकारी कुत्ते (हंटर डॉग्स) के साथ मैदान छोड़कर खड़े हुए। शायद नागार्जुना कंपनी ने पावर प्लांट का विरोध कर रहे कृषक-मछुआरों के प्रतिरोध की ताकत को भांपने के लिए यह छोटा-सा पूर्वाभ्यास (ट्रायल शो) किया था। मत्स्यकारा इक्या वेदिका के अध्यक्ष बी. कृष्णाराव और सचिव ए. लोकनाथन बताते हैं कि ३० अप्रैल की घटना ऑफ द रिकार्ड है इसलिए कि पुलिस ने ३० अप्रैल की घटना के विरुद्ध कोई प्राथमिकी दर्ज नहीं की। पुलिस-शासन की सह से जो कुछ हो हुआ, उसकी प्राथमिकी न दर्ज करते हुए कृषक-मछुआरों के बीसियों नेताओं पर नागार्जुना ने फर्जी मनगढ़ंत मुकदमे दर्ज कराये।

नागार्जुना पावर प्लांट लगायेगी तो सोम्पेटा के पास के गांवों का जीवन कितना सुंदर हो जायेगा, आंध्रप्रदेश की मीडिया का बड़ा तबका इसी प्रचार में खुलकर आगे आ गया। भूमंडलीकरण ने पूंजीवाद के हाथों जिस तरह लोकतंत्र की चाबी थमायी है, मीडिया नागार्जुना के हित में खड़ा होगा, यह विकासपरक पत्रकारिता है। हम विकासपरक पत्रकारिता की मांद में बैठकर आपको ग्राम संग्राम की कथा सुना रहे हैं। हमारे साथ आप आगे बढ़िये..!

सोम्पेटा की शहादत को भूलने वाले

अप्रैल में भाड़े के टट्टू और शिकारी कुत्ते लौट आये, इसका मतलब यह नहीं कि अब वे शिकार नहीं करेंगे। इसका मतलब यह भी नहीं कि वे उनसे युद्ध नहीं रचेंगे जिनका जीवन संग्राम में बदल चुका है। नागार्जुना ने ज्योतिष गणना से शुभ जानकर ही १४ जुलाई को भूमि-पूजन और भू-समतलीकरण के श्रीगणेश का ठोस फैसला लिया। गांवों में पुलिस की आवाजाही २-३ दिन पहले ही बढ़ा दी गयी। संग्राम के १३ गांवों में मोड़-मोड़, गली-गली पर पुलिस का पहरा तैनात हो गया। पुलिस पर्वे बांटने लगी। पर्वे में क्या लिखा है- “पर्यावरण परिरक्षण संगम और मत्स्यकारा इक्या वेदिका ग्रामीणों को गुमराह कर रही है। आपलोग इन संगठनों के बहकावे-भ्रमजाल में ना आये। नागार्जुना कंपनी आंध्रप्रदेश सरकार के साथ हुए समझौते के तहत पावर प्लांट लगायेगी तो आपके इलाके का विकास होगा। आपकी गरीबी खत्म हो जायेगी। गांव शहर में बदल जायेंगे। जो गरीबों के सुख-चैन से जलते हैं वे आपको गरीब बनाये रखना चाहते हैं और इलाके में अशांति फैला रहे हैं।”

पर्यावरण परिरक्षण संगम और मत्स्यकारा इक्या वेदिका ने गांव-गांव में पहले से यह राय बना ली है कि नागार्जुना कंपनी पुलिस और गुंडों की ताकत आजमाएंगे तो हमें क्या करना है? सोम्पेटा पास के ५ कि.मी. क्षेत्रफल के गांवों को पुलिस ने देर रात से ही अपने कब्जे में ले लिया है। १४ जुलाई का सूरज उगा तो सोम्पेटा मंडल के चप्पे-चप्पे में धारा १४४ की निषेधाज्ञा का आतंक फैल चुका था। नागार्जुना कंस्ट्रक्सन कंपनी के पूर्व आई.ए.एस. प्रबंध निदेशक श्रीकाकुलम् के एस.पी., डी.एस.पी. को मोबाइल से लगातार निर्देश दे रहे हैं। ऑन द रिकॉर्ड १२०० पुरुष पुलिस बल के साथ ३०० महिला पुलिस को तैनात किया गया है पर ये ६०० भाड़े के गुंडे जिन्होंने नीले रंग के फीते बांध रखे हैं, इनकी क्या भूमिका होगी? पुलिस के पास आज सख्ती की पूरी तैयारी है। इधर आंदोलन नेतृत्व ने आज अप्रैल प्रतिरोध में अपनाये गये मिर्ची पाउडर का प्रयोग भी ना करने का फैसला लिया है। हमें पुलिस गुंडों के गठजोड़ को गांव से आगे बीला के कृषि क्षेत्र की तरफ घुसने से हर हाल में रोकना है। आंखों में मिर्च झोंकना भी हिंसा है। हम किसी तरह की हिंसा नहीं करेंगे। हम जितने शांतिपूर्वक होंगे, उतने ज्यादा चौकस होंगे। बावजूद हमें धारा १४४ की निषेधाज्ञा को तोड़ते हुए अपने भू-क्षेत्र पर नागार्जुना को पांव रोपने से रोकना है।

बीला क्षेत्र की तरफ सोम्पेटा होकर आनेवाले सभी रास्ते पुलिस की नाकेबंदी से निषिद्ध हो चुके हैं। नीले फीते वाले भाड़े के गुंडे बीला के भीतरी इलाके की तरफ नजर रख रहे हैं। पुलिस के आका सोच रहे हैं, किसकी हिम्मत जो घोषित १४४, अघोषित कर्फ्यू के माहौल में घरों से बाहर निकलेगा, कोई सड़क पर पांव नहीं रखेगा। सुबह की धूप तपने लगी। सूरज कुछ ऊपर चढ़ने लगा और घड़ी की सुई कहती है- साढ़े नौ बज गये। अचानक बीला इलाके में ५ हजार से ज्यादा कृषक-मछुआरों का कारवाँ मानव दीवार की तरह खड़ा हो गया। स्त्रियों का समूह सबसे आगे है। स्त्रियां करबद्ध प्रार्थना की मुद्रा में हाथ जोड़े विनम्र निवेदन कर रही हैं। “हम आप पुलिस वालों से प्रार्थना करते हैं, आप सब हमारी जिंदगी हमें जीने दो और हमारे इलाके से वापस लौट जाओ। हमारी जमीन पर हमारी इजाजत के बिना कोई कैसे पांव रखेगा” “प्राणम पोईना मांकू, पावर प्लांट वदु” (जान देंगे पर पावर प्लांट नहीं आने देंगे) प्राणम पोईना मांकू, पावर प्लांट वदु... जनसमूह के बीच नारों की तरह गूंजता हुआ कोरस में संगीतमय विस्तार ले रहा है। पुलिस और जनसमूह के बीच आगे बढ़ने और नहीं बढ़ने देने की रगड़ में गरमाहट बढ़ी और करबद्ध प्रार्थना कर रही स्त्रियों पर अंधाधुंध लाठी बरसाने लगे। लाठी के साथ आंसू गैस के गोले भी छोड़े गये। निहत्थे मानव समूह मानवबल की ताकत से पुलिस-गुंडे गठजोड़ को कितनी देर तक शांत रख सकते हैं? डंडे बरसने लगे तो सबसे ज्यादा स्त्रियों की देह पर टूटे। भगदड़ मची है पर भागते हुए लोग अपने खेतों में जाकर डटे हैं।

लाठी-डंडे की मार पर रही है और भागते हुए लोग मैदान छोड़कर भागने की बजाय, मैदान पकड़कर डटे हैं तो अब अंतिम विकल्प है- ‘गोली’। १२ बजकर ५० मिनट

में सोम्पेटा के पुलिस सब इंस्पेक्टर अशोक कुमार ने अपने सर्विस रिवाल्वर से अपनी खेत की मेड़ पर डटे कृषक गणपा कृष्णमूर्ति को पास से गोली मार दी। गणपा कृष्णमूर्ति की तत्काल मौत हो गयी। सब इंस्पेक्टर ने दूसरी गोली खेत मजदूर जुन्ना जोगाराव को कनपट्टी में सटाकर मारी। जुन्ना जोगाराव ने भी तत्काल दम तोड़ दिया। जब एस.पी. संजय कुमार जैन खुद पुलिस को दिशा-निर्देश दे रहे थे तो एक सब इंस्पेक्टर को गोली चलाने का आदेश किसने दिया? पुलिस फायरिंग में कुल कितने राउण्ड गोली चली? ६ राउण्ड या १० राउण्ड, कुछ भी ऑन द रिकॉर्ड नहीं है। दो मारे गये ६ किसान बुलेट गोली से घायल हुए। टी.भी.-६ के कैमरामैन बुट्टी अनिल कुमार को कनपट्टी में गोली लगी। लोग मारे गये हैं, कितने मारे गये हैं? अलग-अलग मुख, अलग-अलग किस्से। सोम्पेटा इलाके की शांति खत्म हो गयी और चारों तरफ से भीड़ पुलिस-गुंडों को खदेड़ने-पीटने में लग गयी। सोम्पेटा शहर में सड़क पर पुलिस ने कंटीले तार बिछा रखे थे। कंटीले तार पर नंगे पांव लोग दौड़ने लगे, कुछ देर के लिए सब कुछ नियंत्रण से बाहर हो गया।

बरूआ बीला में जहाँ दो किसानों की लाशें गिरी, पुलिस पर भीड़ ने हमला बोल दिया। पुलिस की जीप में भीड़ ने तत्काल आग लगा दी। पुलिस पीछे भागने लगी, गुंडे भागते हुए भी किसानों की देह पर डंडे तोड़ते रहे। फायरिंग के बाद नियंत्रण से बाहर आयी भीड़ ने उस मीडिया को भी निशाना बनाया, जिसने कल तक नागार्जुना का भोंपू बनकर संग्राम के विरुद्ध विकासपरक पत्रकारिता का स्वांग रचा था। इनाडु, आंध्र ज्योति, साक्षी, आंध्र प्रभा और आंध्र भूमि से जुड़े मीडियाकर्मियों की ५ मोटरसाइकिल पुलिस जीप के साथ-साथ जला दी गयी। इधर सोम्पेटा शहर में फायरिंग के गुस्से में संग्राम समर्थक शहरवासियों ने सोम्पेटा स्थित नागार्जुना कंस्ट्रक्सन के प्रशासनिक कार्यालय पर हल्ला बोल हमला किया। भीड़ ने नागार्जुना के तीन मंजिले प्रशासनिक कार्यालय के दर्जनों कम्प्यूटर, शक्तिशाली जेनरेट सहित सभी कागजातों में आग लगा दी। शाम ढलने से पहले सोम्पेटा में दिल्ली से दूसरी खबर आयी है- केन्द्रीय पर्यावरण पुनर्विचार प्राधिकरण ने आज सोम्पेटा में नागार्जुना पावर प्लांट के लिए पर्यावरणीय मंजूरी रद्द कर दी है।

तीन दिनों तक सोम्पेटा बाजार बंद रहा। चप्पे-चप्पे में पुलिस की इतनी अधिक गश्त, जैसे हम आदमी के कंधे पर बंदूक तनी हो। पुलिस फायरिंग, शहादत, घर-घर में पुलिस की बेरहम मार से आहत जख्मी स्त्रियाँ। तीन दिनों तक सबकुछ स्तब्ध, हवा चुप-मौन, समंदर शांत-स्थिर रहा। तीसरे दिन बाद आंध्रप्रदेश राज्य मानवाधिकार आयोग ने हस्तक्षेप किया। आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति बी. सुभाषण रेड्डी ने श्रीकाकुलम् के एस. पी. को निर्देश दिया कि सोम्पेटा इलाके से तत्काल अतिरिक्त पुलिस बल को वापस बुलाया जाये और दहशत का माहौल समाप्त किया जाये। अध्यक्ष ने १४ जुलाई की पुलिस फायरिंग में दोषी अधिकारियों के खिलाफ जांचोपरांत कारवाई के निर्देश के साथ-साथ पर्यावरण परिरक्षण संगम के अध्यक्ष डॉ. वाई कृष्णमूर्ति, उपाध्यक्ष टी. रामाराव और सचिव डी. दिल्ली

राव को धमकी देने वाले सोम्पेटा पुलिस को अनुशासन में रहने का निर्देश दिया। आश्चर्य यह है कि राज्य मानवाधिकार आयोग ने घायलों के मुफ्त इलाज का निर्देश जरूर दिया पर दोषी पुलिस अधिकारियों के विरुद्ध सख्त कारवाई का कोई निर्देश नहीं दिया है।

क्या सोम्पेटा नंदीग्राम की राह बढ़ रहा है...?

आंध्रप्रदेश राज्य मानवाधिकार आयोग के हस्तक्षेप से सोम्पेटा में जीवन फिर से अपनी गति चलने लगा है पर सोम्पेटा के जखम का घाव अभी हरा है, घाव रिस रहा है, आंखों में अब भी आंसू भरे हैं। भारत सरकार के पर्यावरणीय प्राधिकरण ने पर्यावरणीय मंजूरी रद्द जरूर की है पर उस जिलाधीश के विरुद्ध कोई कारवाई क्यों नहीं की, जिसने नारियल-काजू के बगानों से भरे-लदे, दो फसली कृषि क्षेत्र को अनऊपजाऊ और खेती के लिए अनुपयोगी की झूठी रिपोर्ट भेजकर नागार्जुना कंपनी के हित में पर्यावरणीय मंजूरी दिलायी थी?

आज सोम्पेटा गोलीकांड का दस दिन पूरा हो रहा है। मृतकों के परिवार में दसवीं का क्रियाकर्म चल रहा है तो आंदोलन ने शहीदों की दसवीं को शोक सभा, प्रतिरोध सभा, संकल्प सभा की तरह घोषित किया है। आंदोलन एक तरफ शहादत से शोकसभा से होकर गुजर रहा है तो दूसरी तरफ सोम्पेटा के रोटरी क्लब में जारी क्रमिक अनशन का आज २३२ दिन पूरा हो रहा है। रोटरी क्लब के बाहर बैनर में लिखा है- निराहार दीक्षा शिविरम्-२३२ दिन। इस अनशन का नेतृत्व माताएँ कर रहीं हैं। आज माँ पोकल भाग्यावती, मामिडी ईश्वरी और वीरारपू वीराम्मा अनशन आंदोलन का नेतृत्व कर रही हैं। निराहार दीक्षा शिविरम् में इलाके के बुद्धिजीवी, अधिवक्ता, प्राध्यापक अपना समर्थन जताने आ रहे हैं। इस शिविरम् में चर्चा है कि इसी वर्ष २० जून को मेधा पाटकर सोम्पेटा आयी थी। मेधा पाटकर ने लड़ेंगे जीतेंगे का नारा आंदोलनकारियों को रटा दिया। “लड़ेंगे जीतेंगे” का शोर करते लोगों ने लड़ाई लड़ी तो विद्रोह हुआ। विद्रोह का परिणाम १४ जुलाई का रक्तपात सामने है। क्या मेधा पाटकर लोगों को गलत नारे सिखाती हैं और विद्रोह के लिए भड़काती हैं? नवउदारवाद के प्रवर्तक विकासवादियों के लिए क्या यह मेधा पाटकर के विरुद्ध पुख्ता साक्ष्य है कि सोम्पेटा में मेधा पाटकर की सभा के डेढ़ पखवारे के अंदर ही विद्रोह क्यों भड़का?

सोम्पेटा बाजार में शोक सभा-सह-प्रतिरोध सभा के मंच पर मेधा पाटकर मौजूद हैं। आज मेधा पाटकर ने शहीदों को जोहार और आंदोलन को वाधिल लाली (लंबी उमर) के नारे के साथ अपना भाषण शुरू किया है। २० जून को मैंने सभा में लोगों का गुस्सा महसूस किया था पर यह नहीं समझा था कि उस गुस्से की परिणति जोगाराव और कृष्णमूर्ति की शहादत होगी। मेधा पाटकर कभी हिंदी, कभी अंग्रेजी में बोलती हैं। बोलकर ठहरती हैं तो अजय कुमार तेलुगू में अनुवाद कर भीड़ को सुनाते हैं। पर्यावरणीय महत्व को जाँचने-परखने वाली देश की सबसे महत्वपूर्ण पर्यावरणीय ऑथोरिटी ने १४ जुलाई की

शाम में मंजूरी रद्द जरूर की पर वेटलैंड एरिया में नागार्जुना को पावर प्लांट की पर्यावरणीय मंजूरी २००६ के दिसंबर में क्यों दी गयी, यह आश्चर्यजनक है। पहले मंजूरी देने, फिर मंजूरी रद्द करने की घटना ने इस देश में पर्यावरणीय महत्व के असल को सामने ला दिया है। कॉरपोरेट के विरुद्ध देश भर में जो जहाँ लड़ रहे हैं, उनके साथ सरकार को इकट्ठा संवाद करना चाहिए। सोम्पेटा का संघर्ष बताता है कि पुलिसवाहिनी और गुंडावाहिनी का गठजोड़ कितना ही ताकतवर क्यों न हो, यह गठजोड़ जनवाहिनी से लड़ने की ताकत नहीं रखता है।

शहीदों की याद में हजारों के जनसमूह ने २ मिनट का मौन रखा तो तेलुगूदेशम के स्थानीय विधायक पी. साईराज और कांग्रेस के पूर्व विधायक नरेश कुमार अग्रवाल भी साथ शरीक हुए। पूर्व विधायक ने स्पष्ट कहा कि हमने कांग्रेस के भीतर नागार्जुना के मुद्दे पर कड़ा विरोध दर्ज कराया है और यह संग्राम हमारा संग्राम है। तेलुगूदेशम के विधायक पी. साईराज ने जब आंदोलन के साथ अपनी एकजुटता दिखायी तो जनसमूह को आपत्ति हुई आप नागार्जुना के साथ हैं और आंदोलन के साथ भी एकजुटता दिखा रहे हैं। “चित्त भी हमारी, पट भी हमारी” दोनों एक साथ कैसे चलने वाले हैं?

पोडूगू कामिश राव आंदोलन के लोकप्रिय नायकडू (नेता) हैं। कामिश अंग्रेजी-हिंदी नहीं जानते हैं। इसलिए किसी हिंदी अनुवादक को हमारी सुविधा के लिए हमारे साथ रखते हैं। दिल्ली, मुंबई, कोलकाता की तरफ रोजगार खोजने गये तेलुगूभाषी अच्छी हिंदी बोल लेते हैं। कामिश और धर्मराव मुझे बीला का वेटलैंड, वेटलैंड के चारों तरफ पसरे कृषि क्षेत्र और आंदोलन के लड़ाकू गांवों से मिलाने गांव की तरफ लेकर बढ़ रहे हैं। सोम्पेटा से हम तीन किलोमीटर आगे बढ़े तो यह पलाशपुरम् है। हम सड़क के दोनों तरफ धान के खेत देख रहे हैं। खेत में मेड़ों के घेरे में पानी लबालब है। उधर बिचड़े बड़े हो रहे हैं। धान के सपने इन्हीं खेतों में पलते हैं। दायीं तरफ वह जो दूर दिख रहा है यहाँ से ३० कि.मी., वह महेन्द्र गिरी पहाड़ है। महेन्द्र गिरी पहाड़ से महेन्द्र नदी निकलती है। महेन्द्र तन्या को जीवन नदी कहते हैं। भूमिहीन कृष्णमूर्ति रिश्तेदारों की आधी एकड़ जमीन उनकी कृपा से जोतकर खाते थे। कृष्णमूर्ति को किस तरह आश्चर्यजनक तरीके से गोली मारी गयी, इसकी तस्वीर इनाडू ने प्रकाशित की है। पहली तस्वीर में कृष्णमूर्ति अपने खेत में स्वाभाविक मुद्रा में खड़े हैं और उनके पेट से लहू बह रहा है। दूसरी तस्वीर में उन्होंने मुड़कर देखने की कोशिश की कि पेट से लहू बह रहा है। इन दो स्वाभाविक तस्वीरों के साथ तीसरी तस्वीर में वे जमीन पर गिरे और अब जिंदा नहीं हैं। ५८ वर्षीय कृष्णमूर्ति अविवाहित ही शहीद हो गये तो उनके घर उनके लिए रोने वाली कोई बेवा औरत नहीं दिखी। दूसरे शहीद गुन्ना जोगाराव के घर मातम ज्यादा गहन, ज्यादा दर्दनाक है। ४२ वर्षीय जोगाराव भूमिहीन कृषि मजदूर थे। खेत मजदूर के कंधे पर पल रही दो संतानों और विधवा पत्नी के पास अब कोई आसरा नहीं है। राज्य सरकार ने मारे गये शहीदों को ५-५ लाख रुपये मुआवजा की घोषणा की है पर अब तक शहीदों के परिवारजनों के पास मुआवजे

का चेक नहीं पहुँचा है।

१४ जुलाई को पुलिस और गुंडे किस तरह करबद्ध निहत्थे स्त्रियों पर टूट पड़े पुलिस ने आम ग्रामीणों और गुंडों का फर्क करने के लिए गुंडों को किस तरह नीले फीते बांधने की सलाह दी? वह कौन है, जो आंध्र प्रदेश के तमाम कॉरपोरेट हाउस को गुंडा सप्लाय करता है और मीडिया के सामने पुलिस गुंडों को दिशा-निर्देश जारी करता है? १४ जुलाई के नागार्जुना-पुलिसिया आतंक को पत्रकार रतनाम ने अपने वीडियो कैमरे से रिकॉर्ड किया है। रतनाम की यह फिल्म राज्य मानवाधिकार आयोग को भेजी गयी है। आप इस फिल्म को देखकर पूछ सकते हैं- जब सोम्पेटा में महिला पुलिस बल भी तैनात थी तो हमारी माताओं पर पुरुष पुलिस और गुंडों ने डंडे क्यों चलाये?

इधर सोम्पेटा डाकघर में पोस्टकार्ड गायब हो गया है। डाकघर को ढाई लाख पोस्ट कार्ड का ऑर्डर दिया गया है। आंदोलन समूहों ने तय किया है कि १० दिन के अंदर आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री के पास नागार्जुना पावर प्लांट से प्रभावित सभी २४ गांव के एक-एक बच्चे, बूढ़े, वयस्क अपना प्रतिवाद भेजेंगे। पोस्टकार्ड में सभी एकमत राय-नागार्जुना पावर प्लांट वापस करो लिखकर भेज रहे हैं। हम यह नहीं जान पाये कि नंदीग्राम का बांग्ला नारा- “जान देबो, जमीन देबो ना” हमारे सोम्पेटा पहुँचने से पहले कैसे पहुँच गया। “प्राणम पोईना मांकू, पावर प्लांट वदु” गांव की दीवारों पर तेलुगू में देखकर हम यही कह सकते हैं- नंदीग्राम की आग सोम्पेटा के गांवों में हमारे आने से बहुत पहले ही पहुँच चुकी है। जिस श्रीकाकुलम् को कभी आंध्रप्रदेश के नक्सलबाड़ी के रूप में जाना जाता था, उस श्रीकाकुलम् के हृदयस्थल सोम्पेटा में हमने कभी किसी के मुख से नक्सलबाड़ी या माओवादी का नाम तक नहीं सुना। सोम्पेटा प्रवेश करने से लेकर वापसी की रेल पकड़ते हुए जिस कामिस ने हमारा आतिथ्य-सत्कार किया, हम उसका परिचय जानकर सिहर उठे कि सोम्पेटा पुलिस थाने में मोस्टवांटेड की तस्वीरों में सबसे ऊपर कामिस की तस्वीर है। हमने चुपके से सोम्पेटा में एक लाइन होटल के बिहारी स्वामी से पूछा- क्या कामिस बिहार के पप्पू यादव या शहाबुद्दीन तरह का रॉबिनहुड है? उसने कहा नहीं, कामिस सोम्पेटा इलाके का सचिन तेंदुलकर है। जो गरीब की आँखों में प्यारा है, वह पुलिस की आँखों में सबसे बड़ा आवारा है। हम मोस्टवांटेड का आतिथ्य नहीं भूल रहे हैं। निराहार दीक्षा शिविरम् का अनशन जारी है। गोली दागने वाला इंस्पेक्टर सोम्पेटा में टिका है। आंदोलनकारी चौकस हैं कि १४ जुलाई की फायरिंग के विरुद्ध कोई कारवाई नहीं करने वाली आंध्र सरकार नागार्जुना के हित में आगे क्या करती है? क्या सोम्पेटा के निहत्थे कृषक, मछुआरों पर गोली चलाने वाला सब इंस्पेक्टर जेल नहीं जायेगा? क्या सोम्पेटा से नागार्जुना वापस लौटेगा या आंध्रप्रदेश का नंदीग्राम सोम्पेटा में दुहरायेगा?

भारतीय किसान और स्वामी सहजानंद सरस्वती प्रशांत खत्री

भारत के परिप्रेक्ष्य में किसानों (मुख्य रूप से खेतिहर श्रमिक) की अवस्था पर नज़र डालें तो कुछ आँकड़ों की सहायता से स्थिति कुछ हद तक स्पष्ट होती है- १९९१ में पूरी जनसंख्या का ४०.३ प्रतिशत भाग किसान मज़दूर (खेतिहर श्रमिक) थे जो २००१ में बढ़कर ४५.६ प्रतिशत हो गया। वहीं दूसरी तरफ यदि भारत के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि के योगदान को देखें तो वह केवल १३.२ प्रतिशत ही है। इस असमानता का असर प्रति व्यक्ति आय पर पड़ता है जो खेतिहर श्रमिक के संदर्भ में बहुत ही कम है। इसके साथ-साथ ४८.६ प्रतिशत किसान कर्ज में डूबे हुए हैं। (यह सभी आँकड़े कृषि मंत्रालय, भारत सरकार की वेबसाइट agricoop.nic.in से लिये गए हैं।)*

कृषि एक ऐसा क्षेत्र है जो काफी हद तक प्रकृति पर निर्भर है और इसी कारण से अनिश्चितताओं से घिरा हुआ है। यह परिस्थिति कृषि से जुड़े लोगों को मजबूर कर देती है कि वे बेहतर भविष्य के लिए नगरों का रुख करें परंतु वहाँ उन्हें अन्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। समय-समय पर आने वाली प्राकृतिक आपदाएँ (जिनमें बाढ़ एक प्रमुख आपदा है) भी लोगों को अपना स्थान छोड़ने पर विवश कर देती है और वे आजीविका के लिए शहरों का रुख करते हैं।

एक आम अवधारणा हमारी सामूहिक चेतना में व्याप्त है- 'भारत एक कृषि प्रधान देश है'। यह अवधारणा तब तक सही है जब तक हम इससे यह समझते हैं कि भारत की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कृषि संबंधी कार्यों से जुड़ा हुआ है परंतु भारत के विकास में इसका योगदान सबसे बड़ा नहीं है। यह तथ्य कहीं न कहीं इस बात की ओर इशारा करता है कि किसानों के श्रम का पूरा परिणाम उनको नहीं मिलता और उनके असंतोष का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

किसानों का यही असंतोष समय-समय पर किसान आन्दोलनों में बदलता रहा है। इसका कारण समय एवं परिस्थिति में परिवर्तन आने के अनुसार बदलता रहा है और इसीलिए इन आन्दोलनों के स्वरूप में एकरूपता न होकर भिन्नता दिखाई देती है। परन्तु फिर भी कुछ हद तक आन्दोलनों के माध्यम से किसान एकजुट हुए हैं जिससे उनमें आपसी जुड़ाव और भाईचारे का भाव आया जिसे हम आन्दोलन का लेटेंट फंक्शन (Latent Function) भी कह सकते हैं।

ब्रिटिश सरकार के राज्य में ग्रामीण क्षेत्रों में आन्दोलन देखे गए जहाँ खेतिहर श्रमिक एकजुट हुए और एक अलग सामाजिक श्रेणी के रूप में सामने आए।¹ ऐसे अधिकतर आन्दोलनों में वे एक क्षेत्रीय जमींदार के खिलाफ एकजुट हुए और उनका उद्देश्य लगान कम कराने और अपनी कार्यावधि बढ़ाने के संदर्भ में रहा।² आज़ाद भारत में जमींदारी हटाने संबंधी अधिनियम आया जिसने ज़मीन का बँटवारा कर दिया। इसके साथ-साथ जनसंख्या वृद्धि के कारण भी पहले से बँटी ज़मीन और अधिक बँट गई। इसके साथ-साथ किसानों के बीच ऋणग्रस्तता व्याप्त हो गई। नीचे दिए गए आँकड़े इस बात को सिद्ध करते हैं:

सारणी-9

किसानों में वर्ग के अनुसार ऋणग्रस्तता		
ज़मीन (हेक्टेयर में)	प्रत्येक वर्ग में किसानों का प्रतिशत	प्रत्येक वर्ग में ऋणग्रस्त किसान (%) पूरी किसान जनसंख्या में से
<.01	1.4	1.3
.01 - .40	32.8	30.0
.41 - 1.00	31.7	29.8
1.01 - 2.00	18.0	18.0
2.01 - 4.00	10.5	12.5
4.01 - 10	4.8	6.4
> 10.0	.8	1.2

स्रोत : नेशनल सेम्पल सर्वे ५९वां राउन्ड (जनवरी-दिसंबर २००३)

इस संदर्भ में किसान मजदूरों (खेतिहर श्रमिकों) को परिणाम भुगतना पड़ा जो अपना जीवन यापन दूसरों के खेतों में काम करके किया करते थे। ज़मीन का आकार कम हो जाने के कारण उस पर अधिक लोगों के कार्य करने की आवश्यकता नहीं रह गई और यह एक बड़ा कारण बना खेतिहर श्रमिकों को दूसरे पेशों की तरफ आकर्षित करने का और इससे उनकी संगठनात्मक शक्ति कम हुई।

दीपांकर गुप्ता ने भारत में किसान आन्दोलनों को मुख्य रूप से दो भागों में

विभक्त किया है- (अ) किसान मजदूरों द्वारा किया गया आन्दोलन और (ब) बड़े किसानों और पूंजीवादी किसानों द्वारा किया गया आन्दोलन। वर्तमान भारत में अधिकतर आन्दोलन पूंजीवादी किसानों द्वारा किए गए और हो रहे हैं^{३४} जिसमें वैश्वीकरण के दौर में भूमि अधिग्रहण कानून के संदर्भ में आन्दोलन हुए और जिसकी अगुवाई बड़े नेताओं ने की। यह इस बात का द्योतक है कि किसानों में भी जो पूंजीवादी किसान हैं उनके अन्दर अधिक धनार्जन की लालसा दिखाई देती है और वे ग्रामीण जीवन त्याग कर शहरों में आधुनिक सुख-सुविधाओं के बीच आराम का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। राजनैतिक प्रतिनिधित्व भी ऐसे किसानों को आसानी से मिल जाता है और उनकी आवाज़ हम सभी तक पहुँच जाती है और हम समझते हैं कि यही किसानों की असली समस्या है। इस प्रकार का बदलाव हमें इसलिए दिखाई दे रहा है क्योंकि आज भारतीय राज्य पूंजीवादी बन गया है और नेहरू का जनकल्याणकारी चरित्र क्षीण हुआ है। प्रकृति का दोहन अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए करना लोगों को सही लगता है और इन सबसे हमारी पारिस्थितिकी में परिवर्तन आया है जिसका परिणाम हमको भयंकर आपदाओं के रूप में समय-समय पर मिल जाता है।

इन सबके बीच किसान मजदूर की आवाज़ कहीं खो गई है और उनमें संगठन की अपेक्षा बिखराव देखने को मिलता है। इस परिप्रेक्ष्य में आज इन्हें एक ऐसे मार्गदर्शक की आवश्यकता है जो पुनः इन्हें संगठित करे। किसान समस्या को उसकी संपूर्णता में समझने के लिए स्वामी सहजानन्द सरस्वती से बेहतर मार्गदर्शक क्या कोई और हो सकता है?

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जन्म उत्तरप्रदेश के गाजीपुर में सन् १८८६ में हुआ। वह एक राष्ट्रवादी और भारत के किसान नेता के रूप में जाने जाते हैं। इनका नाम किसान सभा और किसान आन्दोलनों के साथ जोड़कर देखा जाता है जिसका प्रारम्भ सर्वप्रथम १९२६ में बिहार में हुआ जिसे बिहार प्रादेशिक किसान सभा के नाम से जाना गया। उसका उद्देश्य किसानों को शोषक जमींदारों के खिलाफ एकजुट करना था जिसके माध्यम से उनका शोषण रोका जा सके और उनकी समस्याओं का हल निकाला जा सके। परन्तु धीरे-धीरे यह किसान आन्दोलन केवल बिहार तक सीमित नहीं रह गया अपितु इसका क्षेत्र व्यापक हुआ और राष्ट्रीय स्तर पर किसानों की समस्याओं को एक आवाज़ देने का सशक्त माध्यम बना। अप्रैल १९३६ के काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अखिल भारतीय किसान सभा का जन्म हुआ और स्वामी सहजानन्द सरस्वती को इसका पहला अध्यक्ष चुना गया। इस आन्दोलन के साथ अन्य लोग भी जुड़े जिनमें एन.जी.रंगा, ई.एम.एस. नंबूदरीपाद, राहुल सांकृत्यायन, राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्र देव मुख्य थे। अगस्त १९३६ में किसान मेनीफेस्टो प्रकाशित हुआ, जिसमें जमींदारी व्यवस्था को खत्म करने और ग्रामीण कर्ज को माफ करने की मांग रखी गई।^{३५} वर्तमान परिदृश्य में राज्य अनुसार किसानों के कर्ज का आंकड़ा निम्नलिखित है-

सारणी-२

राज्य अनुसार कर्ज में डूबे किसानों का प्रतिशत	
राज्य	कर्ज में डूबे किसान घरों का प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८२
गुजरात	५१.६
कर्नाटक	६१.६
केरल	६४.४
महाराष्ट्र	५४.८
तमिलनाडू	७४.५
पश्चिम बंगाल	५०.०
हरियाणा	५३.१
मध्य प्रदेश	५०.१
पंजाब	६५.४
राजस्थान	६२.४

नोट- केवल उन्हीं राज्यों को शामिल किया गया जहाँ कर्ज में डूबे किसानों का प्रतिशत ५० प्रतिशत या उससे ऊपर है।

स्रोत- नेशनल सेम्पल सर्वे ५६वां राउन्ड (जनवरी-दिसम्बर २००३)

इन आंकड़ों से यह पता चलता है कि ऋणग्रस्तता की निरंतरता टूटी नहीं है और औपनिवेशिक भारत से लेकर आधुनिक भारत तक यह बरकरार है और इसने आज एक जटिल समस्या का रूप ले लिया है। स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने सन् १९०७ में संन्यास लिया परन्तु उन्होंने अपना सारा जीवन धर्म, राजनीति और समाज के अध्ययन एवं सुधार के लिए समर्पित कर दिया। वे एक दण्डी संन्यासी थे और सदैव एक लाठी अपने साथ रखते थे जो बाद में किसान आन्दोलन का प्रतीक बन गया और किसानों की आवाज़ को उसने बुलंद किया। उसने 'डंडा मेरा जिंदाबाद' के नारे को जन्म दिया और किसानों के अंदर अपने शोषकों के खिलाफ लड़ने के लिए जान फूँक दी। 'कैसे लोगे मालगुजारी लट्ठ हमारा जिंदाबाद' इन नारों के माध्यम से वे आम किसानों के साथ जुड़े और उन्हें आपस में जोड़ा।^६

कुछ लोगों ने जब इस बात पर सवाल उठाया कि वे संन्यासी होकर आन्दोलनों में भाग कैसे ले सकते हैं तो उन्होंने इसका उत्तर कुछ इस प्रकार दिया-

प्रायेण देव मुनायः स्वामिमुक्ति काम
मौनम् चरुति विज्ञाने ना परार्थनसिहथाः
नैतन विहाय् क्रिपनान् विमुक्ष एको
नन्यातवदस्य शरनम् भ्रमतो पुनश्ये।

अर्थात् साधक आत्मकेन्द्रित होता है, समाज से अलग रहता है। वह अपने मोक्ष के बारे में अधिक चिंतन करता है और उसी के लिए प्रयासरत रहता है, उसे दूसरों की अधिक चिंता नहीं होती। परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता, मैं ऐसे लोगों के साथ रहूँगा जिनके पास संसाधनों की कमी है और उनके साथ ही जिऊँगा और साथ ही मरूँगा।^६

स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने किसानों का आह्वान करते हुए कुछ महत्वपूर्ण दिशा निर्देश दिए जिसके माध्यम से किसान अपने उत्थान में भागीदार बन सकता है। उनके अनुसार किसानों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे- (१) हिसाब करें और हिसाब माँगें, (२) डरना छोड़ दें, (३) लड़ना सीखें और लड़े, (४) भाग्य और भगवान पर निर्भर न रहें, (५) वर्ग चेतना प्राप्त करें, (६) नेताओं पर कड़ी नज़र रखें और (७) किसान सभा को अपनाएँ।^७ यदि इन बातों का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने किसानों के भविष्य का नियंत्रण उनके हाथ में सौंप दिया। ऐसा करने से अनिश्चितता समाप्त हो सकती है और किसान अपने भाग्य का विधाता स्वयं बन सकता है। ऐसा करने से किसानों में राजनैतिक और आर्थिक चेतना का संचार होगा जिसके माध्यम से सामुदायिकता का भाव बढ़ेगा और सामूहिक चेतना का विकास होगा।

यह सभी बातें और सुझाव वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उतने ही प्रासंगिक हैं जितना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रहे हैं। परन्तु फिर भी वर्तमान परिस्थिति में किसान और मुख्य रूप से खेतिहर श्रमिक अपने आप को अलग-थलग पाता है। ऊपर दिए गए आँकड़ों के साथ-साथ किसान आत्महत्याओं की बढ़ती संख्या इस बात की तरफ इशारा करती है कि किसान वर्ग उपेक्षा का शिकार है। पूँजी एकत्रित करने में हम सभी इतना व्यस्त हैं कि उनकी समस्याओं की तरफ ध्यान नहीं जाता। ग्रामीण समस्या पर शोध पत्र लिख देने से, उन पर अकादमिक समूहों में चर्चा कर लेने से उनकी समस्याओं का हल नहीं हो सकता। यदि वास्तव में हम गंभीर हैं तो एक समाजिक चेतना लाना अनिवार्य है। केवल किसानों के बीच ही नहीं बल्कि आम जन समूह के बीच भी। जब तक किसान समस्या लोक विमर्श का हिस्सा नहीं बनेगी, किसी भी प्रकार का बदलाव लाना असंभव है। इसके साथ-साथ एक सशक्त नेतृत्व की भी आवश्यकता है जो इस असंगठित वर्ग की आवाज़ बनकर सामने आए।

सन् २०११ की जनगणना के प्रारम्भिक आँकड़ों के हिसाब से भारत में ३१ प्रतिशत जनसंख्या शहरी क्षेत्र की श्रेणी में आ गई है।^८ इसका मुख्य कारण शहरी क्षेत्र की जनसंख्या में वृद्धि नहीं बल्कि ग्रामीण इलाकों से शहरी क्षेत्र में पलायन बताया गया है। इसके साथ-साथ जो क्षेत्र पहले ग्रामीण की श्रेणी में आते थे वह अब शहरी क्षेत्रों में गिने जाते हैं। (इसका मुख्य आधार वहाँ की जनसंख्या ५,००० लोगों से अधिक और ७५ प्रतिशत पुरुष जनसंख्या का गैर-कृषि क्षेत्र में कार्य करना है) इससे दो प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं- (१) लोग ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर रहे हैं, जिसकी वजह वहाँ पर उपलब्ध संसाधनों और अवसरों की कमी के साथ-साथ कृषि के क्षेत्र में मुनाफा कम

होने से जोड़कर देखा जा सकता है और (२) अब ज्यादा से ज्यादा लोग कृषि से अपना नाता तोड़कर अन्य क्षेत्रों की तरफ जा रहे हैं। इसके पीछे एक मुख्य कारण पूँजीवादी मानसिकता का प्रबल होना हो सकता है। आज बड़े-बड़े औद्योगिक घराने अपना विस्तार कर रहे हैं जिसकी वजह से चारों तरफ कांक्रीट के जंगल दिखाई दे रहे हैं और इनमें काम करने वाले, इसका निर्माण करने वाले लोग इस चमक-दमक के बीच लुप्त होते जा रहे हैं। इन बड़े-बड़े निर्माणों के पीछे वही मज़बूत हाथ हैं जो कभी खेती किया करते थे।

यदि हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण को एक राजनैतिक विचारधारा से इतर एक अकादमिक विचारधारा के रूप में देखें और इसका इस्तेमाल भारतीय समाज में व्याप्त द्वन्द्व को समझने के लिए करें तो हम यह पाएँगे कि वर्ग तो मौजूद है परन्तु वर्ग द्वन्द्व (class conflict) लुप्त है या दूसरे शब्दों में कहें तो आज पूँजीवाद इतना प्रबल हो गया है कि उसका विरोध करने का साहस किसी के अंदर नहीं, यहाँ तक कि राज्य जिसका आधार समाजवाद हुआ करता था आज वह भी पूँजीवादी हो चुका है और ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार के बदलाव की उम्मीद नहीं की जा सकती है।

किसी भी प्रकार का समाधान तब संभव हो पाता है जब समस्या का पता हो। आज स्थिति यह है कि किसानों और ग्रामीण क्षेत्र की समस्याएँ लोक विमर्श से बाहर हैं। इस वाक्य के समर्थन में मैं हाल ही में किए गए और प्रकाशित हुए एक शोध की तरफ ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।^६ CSDS के विपुल मुद्गल द्वारा एक शोध किया गया जिसमें यह जानने का प्रयास किया गया कि प्रमुख हिंदी एवं अंग्रेजी अखबारों में कितनी खबरें किसानों और ग्रामीण क्षेत्रों से जुड़ी हुई प्रकाशित होती हैं और जो खबरें प्रकाशित होती हैं उनका कन्टेंट क्या होता है (विषय वस्तु क्या होती है)? इस शोध के माध्यम से यह जानकर आश्चर्य नहीं होता कि पूरे कवरेज का केवल २ प्रतिशत भाग ही किसानों और ग्रामीण समस्याओं से जुड़ा हुआ होता है और इस २ प्रतिशत खबर में से अधिकतर (३६ प्रतिशत) वहाँ की किसी घटना, हिंसा, जुर्म या आपदा से जुड़ा होता है। २८ प्रतिशत से भी कम विषयवस्तु कृषि से संबंधित होती है और १५ प्रतिशत के लगभग भूख, आत्महत्या, कुपोषण, पलायन, विस्थापन या किसान आन्दोलन से जुड़ा हुआ होता है। इस नतीजे को हम उपभोक्तावाद की अवधारणा से जोड़कर देख सकते हैं जहाँ पर उद्देश्य अखबारों का वितरण बढ़ाने तक सीमित रहता है और असल मुद्दे कहीं पीछे छूट जाते हैं। उपभोक्तावाद भी पूँजीवादी मानसिकता की ही देन है।

इस पृष्ठभूमि को देखते हुए आज आवश्यकता है हमारे मूल्यों में बदलाव लाने की। वे मूल्य जो स्वामी सहजानंद के आन्दोलन का आधार थे। इन मूल्यों की प्रासंगिकता दो स्तरों पर समझना अनिवार्य है- पहला उन किसानों के स्तर पर जिनमें इन मूल्यों का संचार होना आवश्यक है, उनमें एकता का भाव और अपने हक को समझने और उनके लिए लड़ने का भाव लाना अनिवार्य है और दूसरा उस तथाकथित सभ्य समाज के स्तर पर जो इस समस्या के प्रति सजग दिखाई नहीं दे रहा है। आज जिस बात की कमी सबसे

अधिक महसूस होती है वह है स्वामी सहजानंद जैसे व्यक्तित्व की। आज आवश्यकता है एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की जो उन मूल्यों और विचारों का संचार पुनः इस सभ्यता के भीतर कर सके। यह बातें कहना और सुनना जितना आसान और अच्छा लगता है, वास्तविकता में इसको अमल में लाना उतना ही कठिन है। भारतीय समाज में इतनी जटिलताएँ और विषमताएँ व्याप्त हैं कि इन सब के बीच एक नीति निर्धारण करके कार्य करना अपने आप में एक चुनौती है। समाज विभिन्न जातियों, जनजातियों, वर्गों, क्षेत्रों और भाषागत भिन्नताओं में बँटा हुआ है। यह एक बड़ा कारण है कि वर्ग चेतना प्राप्त करना किसी चुनौती से कम नहीं है। जाति आधारित चेतना, वर्ग चेतना के मार्ग में एक अवरोधक की तरह काम करती है। रामशरण जोशी जी के मतानुसार भारतीय परिप्रेक्ष्य में वर्ग-निर्माण में जाति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि उत्पादन पद्धति व साधन में बदलाव के बावजूद उत्पादन संबंधों में सामाजिक दृष्टि से आधारभूत गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ पाता है। जब तक वर्ण या जाति को वर्ग से सम्पूर्ण तौर पर 'de-link' नहीं किया जाता तब तक देश में आधुनिक वर्ग का अस्तित्व में आना विवादास्पद बना रहेगा। जोशी जी पुनः कहते हैं कि प्रसिद्ध वामपंथी नेता इंद्रजीत गुप्त और ज्योति बसु दोनों ने अपने निधन से पूर्व फ्रंटलाइन को दिए गए अपने साक्षात्कारों में स्पष्ट रूप से इस ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकार किया कि वामपंथी आन्दोलन में जाति के घटक की उपेक्षा हुई है और वर्ग को प्राथमिकता दी गई है जिससे अनुकूल परिणाम नहीं निकले।^{१०, ११, १२} लुई कोज़र ने कहा था कि- 'conflict is the engine of change' (अर्थात् द्वन्द्व बदलाव का कारक होता है) परन्तु द्वन्द्व को पहचानना और उसको सामूहिक चेतना के साथ जोड़ना बदलाव लाने के लिए आवश्यक है।

सैद्धांतिक रूप से किसानों को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है- पूँजीवादी किसान, मध्यवर्गीय किसान, भूमिहीन किसान, किसान श्रमिक इत्यादि जिनको सतही तौर पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन वर्गों का आधार आर्थिक है परन्तु यदि आंतरिक विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होता है कि हरित क्रांति का लाभ कुछ विशेष जाति समूहों को अधिक हुआ। इससे उनकी आर्थिक और राजनैतिक स्थिति अधिक प्रबल हुई, जिसका उदाहरण हम पंचायती राज व्यवस्था के क्रियान्वयन में देख सकते हैं जहाँ अनुसूचित जाति और स्त्री आरक्षण होने के बावजूद एक विशेष जाति/वर्ग समूह के हाथों में सत्ता रहती है।^{१३}

इस परिप्रेक्ष्य में स्वामी सहजानन्द सरस्वती का किसान आन्दोलन एक मिसाल के तौर पर उभर कर सामने आता है। वे स्वयं एक जमींदार परिवार और उच्च जाति से संबंधित थे परंतु इस तथ्य को उन्होंने अपने आन्दोलन के मार्ग में कभी नहीं आने दिया। यहाँ तक कि जब महात्मा गाँधी ने जमींदारों को किसानों के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण बताया तो उन्होंने अपने आप को उस विचारधारा से स्वतंत्र कर लिया।^{१४} क्या ऐसे उदाहरण को वर्तमान संदर्भ में अपनाना और उस पर अमल करना इतना कठिन है? आज

जब भ्रष्टाचार जैसे मुद्दे पर एक राय कायम हो सकती है तो किसानों की समस्याओं को लेकर क्यों नहीं? यह बात सत्य है कि किसान समस्या का राजनीतिकरण हो गया है और इस संदर्भ में स्वामी सहजानन्द हमें मार्ग दिखाते हुए कहते हैं कि- 'नेताओं पर कड़ी नज़र रखें।' यह इस बात की तरफ इशारा करता है कि किसान समस्याओं सतही राजनीतिकरण (Politiking) होने से बचना होगा।

कृषि के क्षेत्र में आज नई चुनौतियाँ हमारे सामने प्रकट हो गई हैं। भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक होने के कारण आज खाद्य सुरक्षा (Food Security) की समस्या उत्पन्न हो गई है। इस समस्या के समाधान के लिए उत्पादन क्षमता में बढ़ोत्तरी आवश्यक है। परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह कार्य हो कैसे? इसका एक विकल्प अनुवांशिक स्तर पर रूपांतरित की गई फसलों या बीजों [Genetically Modified Crop (GM Crop)] के माध्यम से बताया जा रहा है। यह ऐसी फसलें होती हैं जिनके बीजों को अनुवांशिक स्तर पर बदला जाता है जिससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है। परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे बीजों का एकस्व (Patent) अधिकतर विदेशी कंपनियों के हाथ में है और इसका इस्तेमाल व्यापक स्तर पर वही किसान कर पाएँगे जिनकी आर्थिक क्षमता इसकी इजाज़त देती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी परिस्थिति में भूमिहीन कृषक और किसान श्रमिक कहाँ जाएँगे? इन प्रयासों से उनकी स्थिति पर किस प्रकार सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा?

इन प्रश्नों पर जनता के प्रतिनिधियों का ध्यान इसलिए नहीं जाता क्योंकि वे इस बात से अवगत हैं कि किसानों के बीच एक व्यापक वर्ग चेतना का अभाव है। इस परिदृश्य में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के मूल्यों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अपनाना होगा जिसका आधार किसान समस्याओं के सकारात्मक निपटारे पर आधारित है जो कि पूँजीवादी संरक्षणवाद के बजाए समाजवादी प्रगतिवाद की बात सोचता है। इसका उदाहरण हमें नयी जी एम फसल अपनाने के बजाए भूमि अधिग्रहण कानून में बदलाव लाने में मिल सकता है। विकास के नाम पर कृषि उपयोगी ज़मीन का अधिग्रहण रोकना होगा। यदि शहरीकरण की प्रक्रिया बिना रोक टोक चलती रहेगी तो इसका व्यापक परिणाम होगा। ऐसी परिस्थिति में स्वामी सहजानन्द के मूल्य हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं और एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण (मूल्य आधारित) लाया जा सकता है।

(आभार: मैं प्रोफेसर रामशरण जोशी जी के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिनके मार्गदर्शन में यह लेख लिखना संभव हो पाया)

* यह सभी आँकड़े कृषि मंत्रालय, भारत सरकार की वेबसाइट से लिए गए हैं। (agricoop.nic.in)

संदर्भ

१. धनागरे, डी.एन., १९८३, पीजेंट मूवमेंट इन इंडिया: १९२०-१९५०, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
२. गुहा, रनजीत, १९८३, एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ पीसेंट इनसरजेसी इन कालोनियल इंडिया, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
३. गुप्ता, दीपांकर, १९८८, कटरी-टाउन नेक्सस एंड एग्रियन मोबीलाइजेशन: भारतीय किसान यूनियन एज एन इंस्टेंस, इकोनॉमिक एण्ड पालीटिकल वीक्ली, वाल्यूम-२३, नं. ५१, पृ. २६८८-२६९६
४. गुप्ता, दीपांकर, २००५, व्हीयर द इण्डियन विलेज: कल्चर एण्ड एग्रीकल्चर, इन रुरल इण्डिया, इकोनॉमिक एण्ड पॉलीटिकल वीक्ली, वाल्यूम-४०, नं. ८, पृ. ७५१-७५८
५. दास, अरविंद नारायण (संपा.), १९८२, एग्रियन मूवमेंट्स इन इंडिया: स्टडीज़ ऑन २०वीं सेंचुरी बिहार, लंडन, फ्रेंक कास्।
६. हाज़र, वाल्टर, १९९५, स्वामी सहजानन्द एण्ड द पीसेंट्स ऑफ झारखण्ड, मनोहर, नई दिल्ली।
हाज़र, वाल्टर, २००५, सहजानन्द ऑन एग्रीकल्चरल लेबर एण्ड द रुरल पुअर, मनोहर, नई दिल्ली।
७. शर्मा, आर.एस.(संपा.), २००३, स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
८. भगत, आर.बी., २०११, इमरजिंग पैटर्न ऑफ अर्बनाइजेशन इन इंडिया इकोनॉमिक एण्ड पालीटिकल वीक्ली, वाल्यूम-५६, नं. ३४, पृ. १०-१२
९. मुद्गल विपुल, २०११, रुरल कवरेज इन हिंदी एण्ड इंग्लिश डेलीज़ : इकोनॉमिक एंड पालीटिकल वीक्ली, वाल्यूम-५६, नं. ३५, पृ. ६२-६७
१०. जोशी, रामशरण, २००३, २१वीं सदी के संकट, राजकमल, नई दिल्ली
११. जोशी, रामशरण, २०१०, प्रतिरोध की विरासत और वैश्विक पूँजी का वर्चस्व, शिल्पायन, दिल्ली
१२. जोशी, रामशरण, १९८३, आदमी बैल और सपने, प्राची, दिल्ली
१३. तेलतुमडे, आनन्द, २०११, इंडियाज़ (जाति) पंचायती राज, इकोनॉमिक एंड पालीटिकल वीक्ली, वाल्यूम-५६, नं. ३६, पृ. १०-११
१४. स्वामी सहजानन्द, १९५२, मेरा जीवन संघर्ष, पटना

अंतरधार्मिक संवाद : भारत की बहुरंगी संस्कृति राम पुनियानी

सदियों से भारत एक ऐसा देश रहा है जहाँ अलग-अलग धर्मों और सांस्कृतिक परम्पराओं के लोग शांतिपूर्वक रहते और संवाद करते आए हैं। भारत की यही सामाजिक विविधता यहाँ के लोगों के दृढ़निश्चयी और सहिष्णु होने का आधार है। हालाँकि यह सच है की राजा वगैरह हमेशा ही बड़े भूभाग पर कब्जे के लिए आपस में लड़ते रहे हैं पर दोनों ही धर्मों के सामान्य खेत-मजदूरी करने वाले लोगों ने आपस में मेल-मिलाप कायम रखा है। एक ओर राजाओं की चिंता इसी बात को लेकर रहती थी कि कैसे उनका राज्य बड़ा होता रहे वहीं दूसरी ओर समाज के बड़े हिस्से का मन अपने सामाजिक-सामुदायिक जीवन में ही रमता आया है। इसी तरह जब सामंत वर्ग सिर्फ अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ाने को ही चिंतित था तब समाज में विविध रचनात्मक गतिविधियों में लगे लोग, जैसे की कवि, विद्वान, वास्तुकार, प्रस्तुतिकार, लोक-कलाकार और चित्रकार कला की विभिन्न धाराओं के मेल से कला को भी समृद्ध कर रहे थे।

धर्म

बहुरंगी संस्कृति की सबसे बड़ी झलक धर्मों के लौकिक और सामान्य रूप में दिखती है। हिन्दू धर्म की भक्ति परंपरा और इस्लाम का सूफी मत उस दौर की प्रमुख धार्मिक परिघटनाएँ हैं। कबीर, नानक और तुलसीदास ने इन बहुरंगी परिघटनाओं और दोनों बड़े धर्मों की उस समय की प्रमुख परम्पराओं को अपने कार्यों और विचारों में प्रस्तुत किया। कबीर ने बोलचाल की भाषा में लोगों तक अपनी बात पहुंचाई और दोनों समुदायों के बीच बढ़ रहे संवाद को आवाज दी। अपने एक पद में तो वो यहाँ तक कहते हैं कि जिस तरह अलग-अलग गहने सोने के ही रूप हैं उसी तरह अल्लाह, राम, रहीम और हरि भी एक ही ईश्वर के विभिन्न रूप हैं। हिंदुओं की पूजा और मुस्लिमों की नमाज़ उसी ईश्वर की आराधना के बस अलग-अलग तरीके हैं। कबीर धर्म के व्यवस्थागत स्वरूप के कट्टर

आलोचक रहे हैं। वह मुल्लों और पंडितों दोनों की समान रूप से आलोचना करने के साथ-साथ छूआछूत और जाति-प्रथा जैसी धर्म के नाम पर थोपी गई बुराइयों की भी निंदा करते थे। उस समय की तमाम प्रमुख धार्मिक परम्पराओं में उनका कहा और बताया गया लोगों द्वारा बड़ी संख्या में माना गया। उस समय के एक और संत कवि तुलसीदास ने अपने एक आत्मकथात्मक दोहे में इस धार्मिक समन्वय का सुंदर वर्णन किया है

“कहने दो उन्हें जो वो कहते हैं,
भीख मांगता हूँ और मस्जिद में रहता हूँ मैं,
और इस तरह इस दुनिया में मेरा लेन-देन चलता रहता है।”

(तुलसीदास : संदर्भ कवितावली)

आप देखिये कि किस तरह से राम के अभी तक के सबसे बड़े भक्त एक मस्जिद में रहते थे जहाँ बैठकर उन्होंने रामभक्ति की एक से बढ़कर एक पुस्तकें लिखीं। गुरु नानक सामाजिक सौहार्द और धार्मिक समन्वय की पुरजोर वकालत करते थे। हिन्दू और इस्लाम के बीच एका स्थापित करने के लिए उन्होंने दोनों धर्मों के प्रचलित सिद्धांतों को मिलाकर चलने की कोशिश की। उनके यहाँ एक ईश्वर में विश्वास और मूर्तिपूजा का विरोध इस्लाम से और कर्मवाद का सिद्धांत हिन्दू धर्म से आया है। वह जाति प्रथा की खिलाफत करते थे।

सिखों के धर्म ग्रंथ ‘आदि ग्रंथ’ में कबीर और बाबा फरीद जैसे सूफी संतों की बहुत सी बातें सीधे-सीधे ली गई हैं। साथ ही, मियां मीर नाम के एक सूफी संत से ही स्वर्ण मंदिर की नींव रखवाई गई थी।

सूफी परंपरा

सूफी मत ने पिछड़ी जाति और वर्ग के बहुत से लोगों को अपनी ओर खींचा। उनकी सादी और आडंबरहीन जीवनशैली से इन तबकों के अनगिनत लोगों को इस्लाम धर्म अपनाने को प्रेरित किया। उनके मज़ार और दरगाह धार्मिक बन्दिशों के परे सभी लोगों के लिए खुले रहते थे। सूफी संत मूलतः इस्लाम के आध्यात्मिक पक्ष को सामने रखते थे जिसे एक तरह से मुल्लों-मौलवियों द्वारा समर्थित इस्लाम के कट्टर स्वरूप के खिलाफ एक मुहिम के तौर पर समझा जा सकता है। मुहिउद्दीन इब्न अरबी नामक एक प्रसिद्ध सूफी संत ने वहादत- उल-वुजूद, यानि सबकी एकता के सिद्धान्त की नींव डाली जो जाति के बंधनों से परे सबके लिए अध्यात्मिकता की बात करता है। यह बताता है कि ईश्वर एक ही है और हम सभी उसके विविध रूप हैं और इस तरह विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच समन्वय स्थापित करता है।

अच्छी बात यह है कि सूफी संतों की लेखनी लोगों से काफी करीबी तौर पर जुड़ी थी। बाबा फरीद अपनी कविता पंजाबी में लिखते थे और उनका लिखा बहुत कुछ सिखों के पवित्र ग्रंथ ‘गुरु ग्रंथ साहिब’ का हिस्सा है। उनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य निज़ामुद्दीन

औलिया हुए जो बड़े गर्व से यह कहा करते थे कि ईश्वर को मानने के हजारों तरीके वैसे ही हैं जैसे समुंदर पर रेत के हजारों टुकड़े। वह हिन्दू भक्ति गीतों और क़व्वाली को समान रूप से पसंद करते थे। लोक परम्पराओं की तो वह बड़ी ही इज़्ज़त करते थे।

गौरतलब है कि एक ओर उलेमा इस्लाम के अलावा अन्य धर्म के मानने वालों को काफिर या सच को छुपाने वाला, मानते थे वहीं सूफी संत अन्य धर्मों की समान परम्पराओं की बहुत इज़्ज़त करते थे। मजहर-जान-जनान ऐसे ही एक सूफी विद्वान थे।

जहाँगीर के वारिस दारा शिकोह, जिनकी हत्या गद्दी के लिए उनके भाई ने कर दी थी, संस्कृत के एक बड़े विद्वान थे। उन्होंने हिन्दू धर्मग्रंथों का गहन अध्ययन किया था और मजमा-उल-बहरैन (अर्थात् हिन्दू और इस्लाम के दो बड़े समुद्रों का संगम) नामक पुस्तक लिखी थी जिसमें वह मुस्लिम और सूफी आख्यानों की हिन्दू आख्यानों से तुलना के द्वारा इन दोनों धर्मों में समानता स्थापित करते हैं।

इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. बी. एन. पांडे दोनों धर्मों के आपसी संवाद का सुंदर वर्णन प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं “हिन्दू और इस्लाम जो शुरू में कहीं से भी मिलते मालूम नहीं पड़ते थे आगे चलकर इनके मूल सिद्धांतों के आधार पर हुई बहसों के रास्ते सूफी और तसव्वाफ़ जैसे प्रेम और समर्पण की परम्पराओं का जन्म होता है जो विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के लाखों लोगों के दिलों पर राज करते हैं। इस्लाम से सूफी धारा और हिन्दू भक्ति आंदोलन के मेल से एक ऐसी शक्तिशाली धारा बनी जिसने अब तक आडंबर से भरे, शुष्क और नीरस रहे देश का नक्शा ही बदल दिया। यह भारत की एक अद्भुत भावना ही थी जिसने हिंसक होने की हद तक धार्मिकता के साथ आश्चर्यजनक गति से भारत आने वाले इस्लाम का समन्वय अनेकेश्वरवादी हिन्दू धर्म से कराया और इस समन्वय की देन रहीं इमारतें, साहित्य, चित्रकारी, संगीत और कविता मध्यकालीन भारत की अमूल्य धरोहर हैं।”

साहित्य

मुस्लिम राजाओं, इस्लाम और लोक परम्पराओं के आपसी संपर्क और लेन-देन से जनजीवन के सभी क्षेत्रों में एक बहुरंगी संस्कृति का विकास हुआ। संगीत में खयाल, गज़ल और टुमरी इसी मेलजोल से आईं शानदार नेमते हैं। उत्तर भारत में प्रचलित शास्त्रीय संगीत का वर्तमान स्वरूप हिन्दू और इस्लामिक प्रवृत्तियों के संयोजन की ५०० सौ वर्ष से पुरानी प्रक्रिया की उपज है। बीजापुर के आदिलशाही वंश के इब्रहीम द्वितीय (१५८०-१६२६) के दरबार में ३०० हिन्दू गायक थे। संगीत के इस रूप को मुस्लिमों के बीच लोकप्रिय बनाने के लिए उसने उर्दू में “किताब-ए-नौरंग” लिखी जिसकी ५६ कविताओं में शुरुआती कविताएं हिन्दू देवी सरस्वती को समर्पित हैं। चैतन्य महाप्रभु और अन्य वैष्णव संतों की भाषा से प्रभावित होकर कई मुस्लिम संतों ने अपनी रचनाएँ लिखीं। ब्रज भाषा में कृष्ण स्तुति लिखने वाले मुस्लिम संतों में रहीम और रसखान उल्लेखनीय हैं। सय्यद वाजिद शाह

ने मध्यकाल की सबसे महान कृति “हीर रॉझा” लिखी। मराठी साहित्य में शेख मुहम्मद का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है जिसकी प्रशंसा शिवाजी के गुरु रामदास ने की थी।

भाषा : वास्तुकला

फारसी जब हिंदुस्तान में आकर दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली हिन्दी से मिली तो एक नई भाषा जन्मी जो आगे चलकर उर्दू कहलाई। कई हिन्दू विद्वानों ने उर्दू का इस्तेमाल सिर्फ प्रशासनिक कामकाज में ही नहीं किया बल्कि उर्दू साहित्य के विकास में भी योगदान दिया। हिन्दू वास्तुकला में अलंकरण की प्रधानता सुंदरता को उभारने के बजाए उसे छुपा जाया करती थी, मुस्लिम वास्तुकला वहीं पर अपनी गरिमा और प्रकाश की व्यवस्था से पहचानी जाती थी। दोनों शैलियों के मेल से निकली वास्तुकला की सुंदरता की झांकी उस दौर के कुछ बेमिसाल इमारतों से मिलती है। फ़तेहपुर सिकरी स्थित आगरा किले के अंदर बने जोधाबाई के महल और कुव्वत-उल-इस्लाम की मस्जिद के बुर्ज में यह मेल खूब दिखता है। यह मध्य प्रदेश और राजस्थान में दूर तक फैली हवेलियों और जोधपुर, बीकानेर तथा जैसलमर की इंडो-शौरसेनी वास्तुकला में भी दिखता है। इसी तरह, फारसी तकनीक और हिन्दू शैली के अद्भुत रंगों के मिश्रण से सुंदरता और लयात्मकता से परिपूर्ण दीवारों और उकेरी जाने वाली मिनीएचर चित्रकला का विकास हुआ।

सामुदायिक संवाद

तमाम सांप्रदायिक ताकतों के हमलों से बची मध्यकालीन सामाजिक सौहार्द के सबसे मूल्यवान प्रतीक सूफी दरगाह हैं। देशभर में फैले और हिन्दू या मुस्लिम परिवारों द्वारा प्रबंधित इन तीर्थस्थलों पर दुआ मांगने वाले पेशेवर सांप्रदायिक राजनीतिकों के भड़काऊ भाषणों को नकारते हुए सभी धर्मों से आते हैं। मुंबई के ठीक बगल में स्थित हाजी मलंग की दरगाह मध्यकालीन बहुरंगी संस्कृति और विचार पद्धति की एक बहुत अच्छी मिसाल है। एक ब्राह्मण कैलाशनाथ गोपाल केतकर का परिवार पीढ़ियों से इसे संभालता आया है। यहाँ का चढ़ावा भी हिन्दू-मुस्लिम परम्पराओं का समन्वय प्रस्तुत करता है। भक्तगण यहाँ फूलों की चादर के साथ नारियल भी चढ़ाते हैं। साथ ही, कई गिरजाघर भी सभी धर्मावलम्बियों की श्रद्धा का केंद्र रहे हैं जैसा की मुंबई स्थित माउंट मेरी गिरजाघर सहित अन्य कई ईसाई पूजास्थलों में होता है।

लोग विभिन्न धर्मों के त्योहार जैसे होली, दिवाली और ईद इत्यादि बहुत खुशी से मनाते थे। हमारा कपड़ा, खाना, संगीत और वास्तुकला सबकुछ उस समय फलफूल रहे धार्मिक समन्वय को समेटे था। उस्ताद बिस्मिल्लाह खान जैसे महान संगीतकार हिन्दू मंदिरों में भक्ति संगीत रचते-गुनते थे। वस्तुतः उस समय दोस्ती और भाईचारे की सच्ची भावना कायम थी।

आनो भद्रक्रातवो यांतु विश्वतः
(पूरे विश्व से अच्छे विचारों को आने दो)

विभाजनकारी विचारधाराएँ

अंग्रेजों ने “फूट डालो और राज करो” की नीति के तहत इतिहास को सांप्रदायिक रंग देना शुरू किया। कुछ इसी तरह का इतिहास अभी के पाकिस्तान में इतिहास की पुस्तकों (बस इस अंतर के साथ की वहाँ मुस्लिम शासकों का गौरवगान तथा हिन्दू राजाओं कि लानत-मलामत की जाती है) और हमारे देश की सांप्रदायिक सोच में मौजूद है।

ऐसे उदाहरणों कई हैं और देश भर में फैले हुए हैं। आज बहुत ही सोची समझी कोशिशों से इस बेशकीमती विरासत को कम करके आँका जा रहा है और शासक तथा धनाढ्य वर्ग के बाकियों से अलग होने का भ्रम पैदा किया और बढ़ाया जा रहा है। जरूरत इन बहुरंगी परम्पराओं की थाती को बचाने की है जो हमारे देश के विविध समुदायों के परस्पर प्रेम, सम्मान और सहिष्णुता की परंपरा को भावभीनी श्रद्धांजलि है।

आधुनिक भारत

भारत में ‘राष्ट्रवाद’ आधुनिक उद्योग, शिक्षा पद्धति और संचार माध्यमों के साथ आया। स्वतन्त्रता संग्राम के बढ़ते-फैलते जाने के फलस्वरूप हो रहे व्यापक बदलावों के साथ व्यापारी, उद्योगपति, शिक्षित तथा मजदूर वर्ग जैसे नए वर्गों का उदय हो रहा था। इन वर्गों ने आजादी, समानता और बंधुत्व जैसे राजनीतिक सिद्धांतों के साथ काँग्रेस, भारतीय समाजवादी और गणतांत्रिक सभा (Hindustan Socialist Republican Association) तथा भारतीय दलित संघ (Scheduled Caste Federation) जैसे संगठन खड़े किए। इन संगठनों ने धार्मिक विभेदों से ऊपर उठकर काम किया। इसी तरह दलितों और मजदूरों ने भी अपने संगठन बनाए जो धार्मिक भेदों से परे जाकर संपर्क और संवाद पर बल देते थे। ये संगठन विश्व इतिहास के सबसे बड़े जन आन्दोलन साबित हुए भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का हिस्सा बने जो लोगों की धार्मिक पहचान और सोच से ज्यादा उनके भारतीय होने पर बल देता था। यह देखा जा सकता है कि इस आंदोलन के नेता और उनसे जुड़े लोग सभी धर्मों और समुदायों से आते थे जैसे महात्मा गांधी, सरदार पटेल, पंडित नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, एनी बेसेंट, खान अब्दुल गफार खान, सरदार बलदेव सिंह इत्यादि। हमेशा की तरह विविध धर्मों के समन्वय से दूर का नाता भी न रखने वाले और धर्म की राजनीतिक रोटी सेंकने वाले सांप्रदायिक तत्व इस संघर्ष से अलग रहे। हालाँकि समन्वय की यह प्रक्रिया और ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ आंदोलन साथ-साथ चलते रहे।

वर्तमान परिदृश्य

पिछले तीन दशकों के दौरान धर्म के नाम पर हिंसा के मामले बढ़े हैं। ६/११ की घटना

में सभी धर्मों के लगभग ३००० लोग मारे गए। इसके बाद कुछ लोगों ने “सभ्यताओं के संघर्ष” का सिद्धांत खड़ा किया जो अमेरिका के अफगानिस्तान और फिर इराक पर हमले को जायज ठहराने के बड़ा काम आया। लेकिन हम सब यह भी जानते हैं कि वास्तव में न तो सभ्यताओं और न ही अलग-अलग धर्मों या नैतिक सिद्धांतों के बीच कोई मुकाबला या संघर्ष है। अगर कुछ है तो वह सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक हितों का संघर्ष है और धर्म तो केवल एक बहाना है। इसकी परिणति यह हुई है कि दूसरे धर्मों के प्रति जानकारी और फलतः विश्वास में कमी हुई है जो हाल के दिनों में और ज्यादा व्यापक हुई है। इस सबसे हिंसा और आतंक फैलाने वालों को अपना किया जायज़ ठहराने का मौका भी मिल जाता है। स्पष्ट है कि धर्म और राजनीति का भेद तथा अविश्वास के माहौल से पनप रही हिंसा को समझा जाना कितना जरूरी हो गया है।

ज्यादातर धर्म बुनियादी तौर कुछ नैतिक उसूलों की बात करते हैं जिनका उद्देश्य लोगों की आपसी समझ और मोहब्बत बढ़ाना होता है। अब के हालात में धर्म को कुछ गिनती के लोगों तक सीमित कर इसे संस्थागत रूप दे दिया गया है। धर्म के आडंबर वाले पक्ष को उसके नैतिक पक्ष के बरक्स ज्यादा प्रमुखता दी जा रही है। समय के साथ संस्थागत, कट्टर, आडंबरी और पहचान बताने तक सीमित हो चुके धर्म का स्वरूप उसके नैतिक स्वरूप पर पूरी तरह से हावी हो चुका है। संतों और मानवतावाद की सीख देने वाले कई व्यक्तियों द्वारा विभिन्न धर्मावलम्बियों की आपसी एकता कायम रखने के अनगिनत प्रयास हुए हैं। आज आर्थिक हित साधने के लिए समाज के शोषित तबकों और अविकसित देशों को दबा कर रखा जा रहा है। यह सब धर्म के नाम पर हो रहा है। लोगों के बीच बढ़ रही अलगाव की भावना धर्म के मूल स्वरूप को नष्ट कर रही है।

सांप्रदायिक हिंसा

विभाजन के बाद से जिस तरह की हिंसा देश में व्याप्त रही है उसने इस उपमहाद्वीप के दो प्रमुख समुदायों का बिलगाव बढ़ाने में सबसे मुख्य भूमिका निभाई है। यह देखना वाकई त्रासद है की सांप्रदायिक हिंसा के शिकार ज्यादातर तो मासूम ही होते हैं जिनका दोष सिर्फ यह होता है कि वो किसी एक खास धर्म को मानते हैं। साथ ही, ऐसी हिंसा के शिकार महिलाएँ और बच्चे भी होते हैं। यह भी दुखद है कि अलग-अलग देशों में लगभग सभी धर्मों के लोग किसी न किसी रूप में इसके शिकार बनते हैं। हम यह देख ही रहे हैं कि पाकिस्तान में हिन्दू और ईसाई पीड़ित हैं वही भारत में मुस्लिम और ईसाई तथा बांग्लादेश में मुख्यतः हिन्दू यह अमानवीय व्यवहार झेल रहे हैं। मारकाट के असली दोषियों को कोई सजा नहीं होती। क्यों हमारे कुछ भाई-बहन निर्दोषों को सिर्फ दूसरे धर्म का होने की वजह से मारने की हद तक अमानवीय बन जाते हैं?

निष्कर्षतः धर्मों के बीच आपस में कोई संघर्ष नहीं है बल्कि वे बेहतर मानवीय

मूल्य स्थापित करने में हमारे सहायक हो सकते हैं। हिन्दू धर्म के वसुधैव कुटुंबकम, ईसाई धर्म के (अपने पड़ोसियों से प्यार करो) “Love the neighbour” और इस्लाम के (अपने पड़ोसियों की जरूरतों का ख्याल रखो) “Take care of your neighbour's needs” में इसको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हमें इन नैतिक मूल्यों और आज़ादी की लड़ाई से निकले और संविधान में अभिव्यक्त समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व के राजनीतिक मूल्यों को अपनाने की जरूरत है।

अनुवाद : पी.के. मंगलम

हत्याएँ और हत्यारे

एक सिरफिरे, सिख अंगरक्षकों, लिट्टे और कंधमाल के युवाओं के बारे में बातचीत
मानस रंजन

उड़ीसा के सबसे गरीब जिलों में से एक कंधमाल जिले के लिए २००८ में ईसाइयों का साम्प्रदायिक जनसंहार इसके इतिहास के सबसे दुःखद अध्यायों में से एक था। अन्य सभी साम्प्रदायिक दंगों की तरह स्थानीय मीडिया ने पीड़ित समुदाय को ही हिंसा की शुरुआत करने का दोषी ठहराया। वहाँ पर भी कुछ अलग नहीं था। अगस्त २००८ में कंधमाल में एक धार्मिक नेता के अनदेखे और गुमनाम हत्यारों को तत्काल ईसाई पहचान दे दी गई और इसका प्रयोग अल्पसंख्यक ईसाइयों के खिलाफ जनसंहार करने में किया गया। दंगों के दौरान और उसके बाद भी मुख्यधारा मीडिया और सार्वजनिक बहसों में इस पीड़ित समूह की निंदा की गई। इस हिंसा का आधार हिंदुत्ववादी नेता श्री लक्ष्मणानंद सरस्वती के हत्यारों की पहचान के बारे में लगाए गए कयास मात्र थे। मगर क्या दंगे वास्तव में केवल हत्या के आधार पर हुए थे? इस सवाल से परे, एक दूसरा महत्वपूर्ण सवाल है कि कंधमाल के हजारों-लाखों लोगों ने इस कहानी पर कैसे विश्वास कर लिया कि ईसाइयों ने ही लक्ष्मणानंद को मारा था और दंगे इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया थे। उनके मन में राजनेताओं द्वारा स्थापित पूर्व के उदाहरण रहे होंगे जिसमें उन्होंने दंगों को 'क्रिया की प्रतिक्रिया' या 'बड़े पेड़ों के गिरने पर धरती के काँपने' जैसी बात कही।

विश्व हिन्दू परिषद के नेता श्री लक्ष्मणानंद सरस्वती के काफी हिंदू अनुयायी थे, उनमें भी कंधमाल की ऊँची जाति के व्यावसायिक समुदाय के लोगों की बड़ी संख्या थी। सरस्वती का ईसाई अल्पसंख्यकों एवं विशेषतः ईसाई मिशनरियों के खिलाफ दुष्प्रचार करने का इतिहास रहा है। दिसम्बर २००७ को सरस्वती और उनके अनुयायियों ने मुख्य बाजार में क्रिसमस के सार्वजनिक कार्यक्रम को रोकने का प्रयास किया, जिसके कारण स्थानीय ईसाई युवकों तथा उनके बीच हाथापाई हुई। सरस्वती को कुछ चोटें आईं और इस घटना को एक हिंदू नेता पर प्राणघातक हमले की तरह प्रचारित कर प्रतिक्रिया स्वरूप ईसाइयों

के विरुद्ध संगठित हिंसा की बाढ़-सी शुरू हो गई। हिंसा ने हजारों घरों और चर्चों को नष्ट कर दिया जिसने क्रिसमस और नए साल के उत्साह को खराब कर दिया। कुछ ईसाई भी मारे गए और कई घायल हुए। अगस्त २००८ में सरस्वती की हत्या कर दी गयी। पुलिस इससे सहमत थी कि यह हत्या वाम (माओवादी) चरमवादियों द्वारा की गई थी। मगर हिन्दुत्व समूहों ने इस हत्या के लिए ईसाइयों को दोषी ठहराया। इसने ईसाइयों के खिलाफ जबर्दस्त हिंसा की शुरुआत की जिसमें तकरीबन १०० ईसाइयों की हत्या हुई और हजारों ईसाई बेघर हो गए। एक लंबे समय तक राज्य सरकार (स्थानीय पार्टी बीजेडी और दक्षिणपंथी बीजेपी की गठबंधन सरकार) ने हिंसा को रोकने के लिए ज्यादा कुछ नहीं किया। सबसे चकित करने वाली बात थी कि सरस्वती की हत्या के ४८ घंटों के भीतर विश्व हिंदू परिषद ने प्रायोजित तरीके से राज्यव्यापी बंद को अंजाम दिया। ऐसा लग रहा था मानो हत्या से पहले ही सब तैयारी हो। यह एक लंबी कहानी है और इस आलेख का विषय नहीं है। यह आलेख हमारे शांति निर्माण कार्य के अनुभव में से एक अनुभव के बारे में है।

नागरिक समाज के शांति कार्यकर्ता के रूप में हम कंधमाल में युवाओं के बीच शांति और सौहार्द की समझ बढ़ाने तथा शांति और न्याय आधारित ग्रामीण समुदाय बनाने के लिए काम करते हैं। इन शांति अभियानों में से एक 'अंतरंग' शीर्षक के तहत कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य विभिन्न समुदायों के युवाओं को एक साथ लाना है। इन युवाओं के साथ शुरुआती कार्यक्रम अल्पसंख्यक ईसाई समुदाय के विरुद्ध साम्प्रदायिक हिंसा की शुरुआत के दो महीनों के बाद दिसम्बर २००८ में हुआ। हमने महसूस किया कि हिंदुओं और हिंदू धर्मान्तरित आदिवासियों का एक छोटा-सा हिस्सा ही इस हिंसा में शामिल था, उनका एक बड़ा भाग इस हिंसा का या तो समर्थन कर रहा था या इसकी अनदेखी कर रहा था। इसलिए यह काफी जरूरी था कि हिंसा के बारे में युवाओं से साफ-साफ बात की जाए। हमने उन्हें कुछ कागज दिए और उनसे इस हिंसा के पीछे प्रमुख कारणों को तफसील से लिखने को कहा। जब हमने इसे इकट्ठा किया तो पाया कि युवाओं द्वारा बताए गए कारणों की सूची हिंदुत्व समूहों द्वारा रटने वाले कारणों की सूची के करीब थी। इसमें से बहुत कुछ दक्षिणपंथियों के प्रचार का परिणाम था। हमने अपने दिन का अंत मिथक को तोड़ने वाले सत्र से किया जिसमें धर्मान्तरण, जाली जाति-प्रमाणपत्रों, भूमि अलगाव, गो हत्या और अन्य मुद्दे शामिल थे। अधिकांश युवाओं में यह बात समान थी कि स्वामी लक्ष्मणानंद की हत्या से ही दंगे शुरू हुए। यह सच भी था और झूठ भी। यह सच था कि हत्या का प्रयोग ईसाइयों पर प्रायोजित हमले करने के लिए किया गया था। मगर यह कहना गलत था कि दंगे स्वतः प्रेरित थे। असली तैयारियाँ तो हत्या के बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी और संभवतः मारे जाने वाले धार्मिक नेता के नेतृत्व में।

इसने हमें हिंसा के बताए गए कारणों को मिथक तोड़ने वाले नजरिए से देखने पर विवश किया। यह स्वाभाविक ही था कि हम हत्याओं के इतिहास पर एक नजर डालें

और यह जाने कि हत्याएँ अनिवार्यतः दंगे नहीं भड़काती हैं। विभाजक प्रचार द्वारा दंगे होने की संभावना बनाई जाती है जो दंगे की ओर ले जाती है। हत्या वास्तव में बारूद के ढेर को चिंगारी दिखाने जैसी होती है। अगर बारूद का ढेर न हो तो हत्याओं से दंगे नहीं होते। इसलिए हमने सोचा कि इसका सब से बड़ा उदाहरण यह हो सकता है कि इस मिथक को तोड़ा जाए कि श्री लक्ष्मणानंद की हत्या के कारण ही दंगे हुए। साथ ही युवाओं को इन बारूद के ढेर के बनने और इकट्ठे करने की वास्तविक व्याख्याएं बताई जाएं जो केवल एक चिंगारी का इंतजार करती हैं।

जिस हत्या के बाद हत्यारे के समुदाय के विरुद्ध कोई दंगे नहीं हुए, उसका सबसे बेहतरीन उदाहरण महात्मा गांधी का था। हमारे लिए यह स्वाभाविक था कि हम इस उदाहरण को अपने काम में लें और तब युवाओं से यह पूछें कि “क्या आप बता सकते हैं कि गांधी को किसने मारा?” इस सवाल का जवाब बेशक कई परतों वाला और इस बात पर निर्भर करता है कि आप कहाँ से खड़े होकर इस सवाल को देखते हैं। आप नाथूराम गोडसे का नाम ले सकते हैं या साम्प्रदायिकता का नाम ले सकते हैं या हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिकता को बता सकते हैं या अन्य कई हस्तक्षेप करने वाली परतों का खुलासा कर सकते हैं। लेकिन यह काफी आश्चर्यजनक था कि जब हमने जवाब में यह सुना कि अधिकांश युवाओं को मालूम ही नहीं था कि गांधी को किसने मारा है। इस बात ने हमें हमारे कार्यक्रम में थोड़े बदलाव के लिए मजबूर किया। अब गांधी को किसने मारा होगा, इसका अनुमान लगाया जाए। बहस को जासूसी उपन्यास में तब्दील कर दिया गया। इसलिए हमने गांधी से ही शुरुआत की। अधिकांश ने गांधी और उनके बारे में सुना था लेकिन किसी के पास ज्यादा और ठोस जानकारी नहीं थी। मसलन हर कोई इससे सहमत था कि गांधी एक महापुरुष और महान नेता थे। दक्षिणपंथी उच्चावचक्रम में काफी नीचे होने, दक्षिणपंथी साम्प्रदायिक एजेंडा के महज प्यादे होने के कारण अभी तक युवाओं को गांधी और उनके मूल्यों के प्रति घृणा करना नहीं सिखाया गया था जो कि दक्षिणपंथी बौद्धिकों में साफ झलकता है। यहाँ पर जो युवा थे वो गांधी का पूरा सम्मान करते थे, लेकिन उन्हें दक्षिणपंथी कार्यकर्ताओं और दक्षिणपंथी विचारधारा द्वारा गांधी की हत्या के बारे में नहीं बताया गया था। अतः हमने इस बात पर बहस करना शुरू किया कि गांधी को किसने मारा। स्वाभाविक ही था कि बहुत कम युवा ही गांधी के हत्यारे के बारे में बहुत कम जानते थे इसलिए हमने उन्हें बहस को थोड़ी देर के लिए रोकने को कहा।

युवाओं ने गांधी के इतिहास के बारे में जो कुछ बताया वह इस तरह था कि वह महान राष्ट्रवादी और गहरे धार्मिक व्यक्ति तथा हिंदू तौर तरीकों से रहते थे। जब युवाओं को श्री लक्ष्मणानंद सरस्वती और महात्मा गांधी के बीच तुलना करने को कहा गया तब सभी इस बात पर सहमत थे कि गांधी ज्यादा महान थे। जब युवाओं से गांधी के हत्यारे के धर्म के बारे में अनुमान लगाने को कहा गया तो अधिकांश का जवाब था (और आपका भी अनुमान सही है) कि वह जरूर मुस्लिम रहा होगा, जबकि कुछ ने इसके ईसाई होने

का अनुमान लगाया। जब हमने यह बताया कि वास्तव में वह हिंदू था तो इन सभी के लिए यह आश्चर्यजनक था। इसी जवाब ने हमें दूसरे सवाल तक पहुँचाया। हिंदुओं के भीतर विद्यमान विभिन्न जातियों और विभिन्न जातियों के साथ जुड़ी विशिष्टताएं और उनके गुणधर्मों की जानकारी देकर हमने उनसे यह सवाल किया कि अनुमान लगाएं कि हत्यारे की जाति क्या रही होगी? पुनः, जवाब के बारे में आप पहले से अनुमान लगा सकते थे और अधिकांश लोगों का जवाब भी यही था कि वह हरिजन¹ रहा होगा और कुछ ने उसे क्षत्रिय बताया। बेशक उन सभी को बहुत आश्चर्य हुआ जब उन्हें यह बताया गया कि वह हत्यारा ब्राह्मण था। मगर महत्वपूर्ण बहस इस सवाल के इर्द-गिर्द थी कि गांधी जी की हत्या के बाद ब्राह्मणों के विरुद्ध कोई दंगा क्यों नहीं हुआ। इस सवाल का जवाब पाने से पहले हमें दो अन्य हत्याओं पर भी बहस करनी होगी।

१९८४ में गांधी उपनाम की एक महान नेत्री की हत्या हुई - यह श्रीमती इंदिरा गांधी थीं जो दूसरी सबसे ज्यादा समय तक भारत की प्रधानमंत्री रहीं और संभवतः ऐसी अंतिम राजनीतिक नेत्री थीं, जिनकी संपूर्ण भारतीय अपील थी। इंदिरा गांधी की हत्या ने सिखों के जनसंहार को जन्म दिया जो भारत में दंगों के इतिहास में अतुलनीय है।^२ यह बात उस मृत नेत्री के धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद के प्रति दृढ़ विश्वास के बारे में बहुत कम बताती है जिसके चलते उन्होंने विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त इस सुझाव की अनदेखी की कि उन्हें अपने अंगरक्षकों में से सिखों को अलग कर देना चाहिए। तब इसे क्या कहा जाना चाहिए कि सिखों जैसे शक्तिशाली अल्पसंख्यक भी बहुसंख्यक हिंसा के हमले और जनसंहार के शिकार बन सकते हैं, साथ ही जिसमें बहुसंख्यक समुदाय में से ही हमलावरों और कानून रक्षकों के बीच की रेखा बहुत अस्पष्ट हो। क्या हत्या ही वास्तविक कारण था या भारत की (और इंदिरा की) खालिस्तान पृथक्कतावाद के विरुद्ध लड़ाई पर मीडिया द्वारा बनाई गयी सिख विरोधी भावनाओं का बारूदी ढेर था जिसे चिंगारी का इंतजार था?

गांधी उपनाम वाले तीसरे भारतीय की हत्या १९८९ में हुई जो भारत के पूर्व-प्रधानमंत्री राजीव गांधी थे। हत्या को तत्काल लिट्टे के साथ जोड़ दिया गया। साजिशकर्ताओं के साथ न तो धार्मिक या नस्लीय लेबल चस्पां किया गया और न ही कोई बड़ी हिंसक घटना ही हुई। अगर हत्या से पूर्व तमिलों के खिलाफ कोई गोलबंदी की गई होती तो शायद दंगे अवश्य हुए होते। हत्या के ३० साल बाद भी जब श्रीलंकाई सेना के लिट्टे को खत्म करने के अभियान में तमिलों का नरसंहार होता है तब भारत में जन सहानुभूति का अभाव होता है। यह शायद एक देश की उस कमजोरी को बताता है जिसमें वह एक समुदाय के भीतर साजिशकर्ताओं को उस समुदाय के अन्य लोगों से अलग कर सके। विशेषतः अगर यह समुदाय अल्पसंख्यक है तो देश की बहुसंख्यक जनता को इसकी मौत और दुर्दशा ज्यादा प्रभावित नहीं करती है।

महात्मा गांधी की हत्या के बाद दंगे नहीं हुए तो यह परिणाम निकालना बहुत सरल या गलत होगा कि गांधी जी एक महान आत्मा थे।^३ अगर इस बात की कोई भूमिका

भी रही होगी तो वह बहुत छोटी रही होगी। मुख्य भूमिका निभाने वाली बात यह थी कि हत्यारे का समुदाय काफी सशक्त था, मुख्यधारा में था और फिर चाहे भारत में संख्या के तौर पर एक अल्पसंख्यक ही क्यों न हो इस समुदाय ने बहुसंख्यक के नेतृत्व के अहसास के स्तर को प्राप्त किया था। साथ ही ब्राह्मणों के खिलाफ कोई लंबा घृणा अभियान भी नहीं था। बल्कि अल्पसंख्यकों के खिलाफ घृणाप्रचार में लिप्त सर्वाधिक शक्तिशाली संगठनों और नेताओं को भी गांधी जी नापसंद थे। जैसा कि कंधमाल के युवा लड़के व लड़कियां अपनी बेहतर सूचना के अभाव में मानते थे, यदि नाथूराम गोडसे मुस्लिम, ईसाई या दलित होते तो क्या गांधी जी की महानता अकेले इतनी सामर्थ्यवान थी कि वह हत्यारे के समुदायों के खिलाफ होने वाली हिंसा को रोक सकें?

इन तीन हत्याओं से संबंधित सामान्य लेखों और मीडिया रिपोर्टों पर नजर डालें तो यह इशारा करती हैं कि इंदिरा गांधी की हत्या को हमेशा उनके सिख अंगरक्षकों - केवल अंगरक्षक नहीं- के साथ जोड़ा जाता है। राजीव गांधी की हत्या को लिट्टे कैडर के साथ जोड़ा जाता है जिसमें उनकी धार्मिक या नस्लीय पहचान नहीं होती। गांधी जी की हत्या के संबंध में हत्यारे की न तो धार्मिक या जातीय पहचान बतायी जाती है और न ही उसकी संगठन के साथ संबंधता को स्पष्ट किया जाता है। बल्कि उसका नाम बताया जाता और सिरफिरा कहा जाता है - गांधी की हत्या एक सिरफिरे द्वारा की गयी। यह साधारण सा दिखनेवाला जुड़ाव इस बात का खुलासा करता है कि यह कमजोर और निंदनीय अल्पसंख्यक समुदाय ही है जो इसके एक या एक से अधिक सदस्यों के वास्तविक या आभासी कामों की वजह से पूरा समुदाय व्यापक रूप से आरोपित होता है जबकि शक्तिशाली बहुसंख्यकों के सदस्यों द्वारा ऐसे कामों के किए जाने पर बहुसंख्यक समुदाय पर ऐसे लेबल चरपां नहीं किए जाते हैं। यह कमजोर अल्पसंख्यक ही हैं जिन्हें समुदाय के तौर पर बुराई के रूप में स्थापित किया जाता है। मसलन अल-कायदा की आतंकी गतिविधियों को हमेशा इस्लामी आतंकवाद के रूप में बताया जाता है मगर जब ईसाई आतंकवाद या हिंदू आतंकवाद जैसे जुमलों का इस्तेमाल किया जाता है तब विरोध होने लगता है। ऐसी आतंकवादी घटनाएँ जिसमें इस्लामी हमलावर द्वारा इस्लामी लोग हिंसा का शिकार होते हैं तब भी यह घटना मीडिया द्वारा इस्लामी आतंकवाद के रूप में प्रस्तुत की जाती है जबकि एक ईसाई धर्मांध युवक द्वारा एक सोशलिस्ट युवक की हत्या कमोबेश तौर पर ईसाई आतंकवाद के लेबल से चरपां किए जाने से बच जाती है। मुस्लिम दोषी है, उन्होंने ट्रेन मुसाफिरों का जनसंहार कर २००२ के गुजरात दंगों को शुरू किया। मगर साधारणतः हिंदुओं को अन्य ट्रेन मुसाफिरों के जनसंहार का दोषी नहीं माना जाता जो मुख्यतः मुस्लिम थे। शिकार बने समुदायों के साथ जो दृष्टिकोण होता है वही दृष्टिकोण शिकार बने राष्ट्रों पर भी लागू होता है। आमतौर पर जब भी युद्ध समाप्त होता है तो विजेता की यह कोशिश रहती है और वह इसकी व्यवस्था भी करता है कि किसी भी तरह हारे हुए को आक्रमणकर्ता के रूप में प्रस्तुत कर सके। इसलिए हॉलीवुड में पर्ल हार्बर को

इतना अधिक कवरेज मिला जबकि हिरोशिमा और नागासाकी बमबारी की अनुपस्थिति सुस्पष्ट है।^४

सौभाग्य से प्रशिक्षण कार्यक्रम के अधिकांश युवा हत्या और उसके साथ जुड़ने वाले नामों और समुदायों के प्रति होनेवाली हिंसा को समझ सके कि उन समुदायों के प्रति घृणा और अधैर्य की स्थिति एक सुनियोजित प्रचार के तहत पहले ही बनाई जा चुकी होती है। कंधमाल में यह समुदाय दलित ईसाईयों का था। कारण महज उनका ईसाई होना ही नहीं था बल्कि ईसाईयत ने उन्हें वह जगह प्रदान की कि वह उस समुदाय से निकल सके जिसमें वह हमेशा ऊँची जाति के लोगों की आजीवन ताबेदारी करते रहते। जब तक ये समुदाय हिंदू धर्म में रहते और मुख्य ऊँची जाति के लोगों के शोषण के मध्यस्थ बने रहते तो इनके साथ कोई संघर्ष नहीं होता था। मगर जब वे हिन्दू धर्म से बाहर आ गए और अपना स्वतंत्र आधार खड़ा कर ऊँची जाति के व्यापारी लोगों को आर्थिक चुनौती देने लगे तब इनके खिलाफ 'हिन्दुत्व खतरे में' या 'हिन्दुत्व पर आक्रमण' जैसे तर्कों का सहारा लेकर घृणा और अधीरता को पैदा किया गया।

क्या गांधी, उनके मूल्यों, उनकी शिक्षाओं, उनके जीवन और मुख्यतः उनकी मृत्यु की ज्यादा बेहतर जानकारी कंधमाल के युवकों को हिन्दुत्ववादी समूहों द्वारा दिए जा रहे चरमपंथी झुकाव से नहीं बचा सकती थी, जिस झुकाव के जरिए यह समूह ईसाईयों को लक्ष्मणानंद के हत्यारों के रूप में पेश करना चाह रहे थे? इस सवाल के जवाब का शायद अनुमान ही लगाया जा सकता है। लेकिन क्या यह दुःखद पहलू नहीं हैं कि कंधमाल के उच्च माध्यमिक और स्नातक स्तर के युवाओं को गांधी और गांधी विरोधियों के बारे में शायद ही जानकारी दी गयी हो? क्या यह जरूरी नहीं है कि गांधी को उन लोगों तक ले जाया जाए जिनके बीच में वह अपने समय में रहते थे? एक व्यावहारिक नजरिए से गांधी, उनकी जिंदगी और उनकी मृत्यु के बारे में अध्ययन क्या इस देश को साम्प्रदायिक दुःखांतिका से ठीक करने की ओर नहीं ले जा सकता?

कंधमाल दंगों के संदर्भ में गांधी और उनके मूल्यों के बारे में कोई भी बहस तब तक बेमानी है जब तक इस बात पर भी बहस न हो कि ओडिशा में हिंदुत्व समूह गांधी को कैसे प्रस्तुत करते हैं? तथाकथित नेताओं^५ की एक बैठक में संघ परिवार संगठनों के एक वरिष्ठ नेता ने अपना मत प्रकट किया कि धार्मिक धर्मान्तरण का विरोध और ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध काम करके वह केवल गांधी की इच्छा का ही काम कर रहे थे। यह एक रोचक दावा है। यह सच है कि गांधी जी ने धर्मान्तरण का विरोध किया। लेकिन उन्होंने विभिन्न धार्मिक आदेशों के धर्मान्तरणों में कोई भेद नहीं किया और सुनियोजित धार्मिक परिवर्तन और प्रचार की आलोचना की। मगर गांधी जी अहिंसा और सभी धर्मों के लोगों के समान अधिकारों में विश्वास रखते थे। हिंदुत्ववादी नेता गांधी जी को अपनी सुविधानुसार चुन रहे थे और गलत भी कर रहे थे। संघ परिवार ने ओडिया में ईसाई मिशनरियों पर गांधी जी के दृष्टिकोण संबंधी एक खंड प्रकाशित कराया और ईसाई मिशनरियों के खिलाफ

अपने कामों को उचित ठहराने के लिए इसका प्रचार-प्रसार भी किया।

यह वास्तव में एक विसंगति ही है कि गांधी में सबसे कम विश्वास करने वाले संगठन ही इनके विचारों की गलत व्याख्या और गलत प्रस्तुति कर उनका प्रयोग कर रहे हैं। दूसरी ओर सेक्युलरिज्म और सौहार्द में विश्वास रखने वाले अभी तक गांधी को देश के युवाओं तक ले जाने में सफल नहीं हुए हैं। क्या यह दुःखद नहीं है कि गांधी पर बेहतर फिल्म और उनका बेहतर परिचय कराने वाली रिचर्ड एटनबरो द्वारा निर्मित फिल्म 'गांधी' केवल अंग्रेजी और हिंदी में होने के कारण भारत के अधिकांश लोगों तक नहीं पहुँच पायी है। आज हिंदी, तेलुगु और तमिल फिल्मों ओडिया में डब की जाती हैं। जबकि गांधी फिल्म आज भी हिंदी और अंग्रेजी तक ही सीमित है। अगर कोई इस फिल्म को उड़ीसा और कंधमाल के दर्शकों के बीच ले जाना चाहता है तो उसे इस फिल्म को ओडिया या उससे जुड़ी भाषा जैसे- कुई में डब कराना होगा। गांधी फिल्म को सभी भारतीय भाषाओं में डब कराना इस दिशा में बेहतर कदम और प्रयास हो सकता है। निस्संदेह, आज भारत के लोगों तक गांधी और उनके संदेश को पहुँचाने के लिए बहुत कुछ करने की जरूरत है। मगर एक आशा यह है कि भारत सरकार इस दिशा में पहल जरूर करेगी।

संदर्भ

1. मैंने दलित के बजाय इस शब्द का प्रयोग वास्तविक बहस को प्रदर्शित करने के लिए किया जबकि मैं खुद दलित शब्द को ज्यादा उचित मानता हूँ।
2. इन दंगों में दोषियों पर कम आरोप तय किए गए और उन्हें काफी कम सजा दी गयी।
3. ठीक इसी तरह कंधमाल दंगों और श्री लक्ष्मणानंद के बारे में नैतिक धारणा के बीच रिश्ता कायम करना गलत होगा।
4. 'व्हाइ हॉलीवुड इग्नोरस हिरोशिमा', रोनाल्ड बर्गमैन, द गॉर्जियन, 9५ अगस्त २०१०, तथा ऑटोमिक कवर अप, टू अमेरिकन सोल्जर्स, हिरोशिमा एण्ड नागासाकी, एण्ड द ग्रेटेस्ट मूवी नेवर मेड, ग्रेग मिशेल
5. 'तथाकथित' इसलिए कि किसी भी धर्म के प्रचार से न तो साम्प्रदायिक दंगे होते हैं और न ही ये नेता वास्तविक धार्मिक नेता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये नेता साम्प्रदायिक संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं जिसके पीछे न तो धार्मिक अनुमति होती है और न ही धार्मिक-आध्यात्मिक अनुयायी ही।

अनुवाद : शंभू जोशी

नाभिकीय विकल्प : नाभिकीय शस्त्र व ऊर्जा पर बहस संदीप पाण्डेय

नाभिकीय शस्त्र व ऊर्जा आधी शताब्दी से तो है ही और अभी भी उनको लेकर बहस उतनी ही तीखी है जितनी कि शुरू के दिनों से है। इस क्षेत्र को लेकर सरकारों ने इतनी गोपनीयता बरती है कि लोगों के बीच समझदारी भी नहीं बन पाई है। भारत में दूसरे नाभिकीय परीक्षण के पहले हुए एक सर्वेक्षण में ६७ प्रतिशत लोगों ने कहा कि नाभिकीय मुद्दे पर उन्हें जानकारी उपलब्ध नहीं है।^१ बहस आमतौर पर वैज्ञानिकों व विशेषज्ञों तक ही सीमित रही है। सरकारी विशेषज्ञ गोपनीयता बनाए रखने के उद्देश्य से जानकारी नहीं उपलब्ध कराते। बल्कि कई बार वे भ्रम फैलाते हैं। उदाहरण के लिए भारत का कोई भी वैज्ञानिक यह स्वीकार नहीं करेगा कि विकिरण की वजह से लोगों को कोई खतरा है।

भारत का नाभिकीय तंत्र संसद के प्रति जवाबदेह हुए बिना वर्षों से चल रहा है। परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष सीधे प्रधानमंत्री के प्रति जिम्मेदार हैं। सरकार परमाणु ऊर्जा अधिनियम, १९६२, का इस्तेमाल कर परमाणु ऊर्जा संयंत्र सम्बंधित जानकारी भी देने से मना कर सकती है यह कहते हुए कि जानकार संवेदनशील है और देश की सुरक्षा से जुड़ी हुई है। सूचना के अधिकार अधिनियम, २००५, के तहत भारत की एक यूरेनियम खादान जादूगोड़ा की मिल टेलिंग के एक पाईप से हुए रिसाव के बारे में पूछे जाने पर यह स्पष्ट हो गया कि प्रशासन बहुत जल्दी अपने तरीके नहीं बदलने वाला।^२

अतः सरकार से स्वतंत्र विशेषज्ञों की भूमिका इस मामले में अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि उन्हीं से आम जनता को कुछ तथ्यात्मक जानकारी मिल सकती है। एक लोकतंत्र में जनता की भागीदारी एवं सफल शांति व पर्यावरण अभियानों के लिए एक खुली एवं जानकार बहस जरूरी है। इस आलेख का उद्देश्य है कि लोगों की नाभिकीय विषय को लेकर स्पष्ट समझ बने। प्रस्तुत आलेख में प्रस्तुतीकरण की शैली विषय से जुड़े कई भ्रमों को स्पष्टीकरण देकर किया गया है।

भ्रम : नाभिकीय शस्त्र सुरक्षा प्रदान करते हैं ।

हकीकत : नाभिकीय शस्त्र सिर्फ एक बार वास्तविक युद्ध में इस्तेमाल किए गए हैं। हिरोशिमा व नागासाकी में नाभिकीय शस्त्रों का इस्तेमाल युद्ध को समाप्त करने के अलावा अमरीका के राष्ट्रपति द्वारा मैनहैटन प्रकल्प की सफलता व नाभिकीय शस्त्रों की भयानक विध्वंसक क्षमता का प्रदर्शन के उद्देश्य से किया गया था। सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक क्षमता व असीमित संसाधनों को लगा कर मैनहैटन प्रकल्प हिटलर द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध में नाभिकीय शस्त्र बना लेने के खतरे से निपटने के लिए शुरू किया गया था। हिटलर तो बम बना नहीं पाया। अमरीका के राष्ट्रपति ने दो बम - एक यूरेनियम का तथा दूसरा प्लूटोनियम का - गिरा कर प्रकल्प की सफलता सिद्ध की। जापान तो आत्मसमर्पण की तैयारी कर रहा था। उस पर यह अमानवीय कार्यवाही करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

परमाणु बम की विभीषिका इतनी भयावह थी कि जब अगले वर्ष संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई तो सामान्य सभा के पहले सत्र में जो पहला प्रस्ताव २४ जनवरी, १९४६ को स्वीकार किया गया वह था परमाणु बमों व उसके किस्म के व्यापक विनाश की क्षमता रखने वाले शस्त्रों को समाप्त करना।

हिरोशिमा व नागासाकी के बाद नाभिकीय शस्त्रों का कभी किसी युद्ध में इस्तेमाल नहीं हुआ। अमरीका-विएतनाम, इंग्लैण्ड-अर्जेंटीना, सोवियत संघ-अफगानिस्तान, फ्रांस-अल्जीरिया, अमरीका-अफगानिस्तान व अमरीका-ईराक जैसी कई परिस्थितियां उत्पन्न हुईं जहाँ इन शस्त्रों का उपयोग हो सकता था किन्तु नाभिकीय शस्त्र सम्पन्न राष्ट्र इसके उपयोग से कतराए क्योंकि उन्हें उसकी त्रासदी व राजनीतिक परिणामों का अहसास था जबकि इनमें से कुछ युद्ध में उन्हें ही मात खानी पड़ी।

भ्रम : नाभिकीय ऊर्जा सस्ती है ।

हकीकत : शुरुआती दिनों में वैज्ञानिकों ने एक ऐसा सपना दिखाया कि नाभिकीय ऊर्जा से इतनी सस्ती बिजली मिलेगी कि बिजली के मीटर लगाने की जरूरत ही नहीं रहेगी यानी कि वह लगभग मुफ्त मिल पाएगी। किन्तु अब वर्षों के अनुभव से यह साबित हो गया है कि नाभिकीय ऊर्जा से बिजली बनाना एक खर्चीला काम है। शुरुआती पूंजीनिवेश व रख-रखाव का खर्च ही काफी है, ऊपर से खतरनाक रेडियोधर्मी कचरे के निपटारे का खर्च अलग से। कुछ विशेष छूट के साथ ही नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र कोयला आधारित ताप बिजली घरों से प्रतिस्पर्धा में ठहर सकते हैं, जो शायद हमेशा सम्भव न हो। बिना कचरे के निपटारे के खर्च को शामिल किए भी नाभिकीय बिजली काफी खर्चीली है।^३ परमाणु ऊर्जा विभाग नाभिकीय विद्युत कार्पोरेशन को कचरे के निपटारे का खर्च स्वयं वहन कर तथा उत्पादन की कीमत से कम पर भारी पानी की आपूर्ति कर सब्सिडी देता है।^४

परमाणु ऊर्जा विभाग का खुद का अनुमान है कि कुडनकुलम संयंत्र से रु. ३.

०८ प्रति इकाई की दर पर बिजली पैदा होगी जबकि पास ही में स्थित नेवेली ताप बिजली घर की उत्पादन कीमत रु. १.७४ से रु. १.६६ प्रति इकाई है (७० से ८५ प्रतिशत क्षमता पर)। पवन ऊर्जा से बिजली रु. २ से रु. २.५० पर उपलब्ध है।^५ अमरीका में मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलोजी के एक अध्ययन में बताया गया है कि नाभिकीय बिजली की कीमत ६.७ सेण्ट्स प्रति इकाई, कोयले से ४.२ सेण्ट्स प्रति इकाई व गैस से ३.८-५.६ सेण्ट्स है। दिल्ली साईंस फोरम की एक रपट बताती है कि देशी नाभिकीय बिजली संयंत्रों से अनुमानित कीमत रु. ३.६० प्रति इकाई, आयातित रिएक्टरों से रु. ५.५० व कोयला आधारित ताप बिजली संयंत्रों से रु. २.५० होगी।^६

भ्रम : नाभिकीय ऊर्जा साफ-सुथरी है।

हकीकत : पूरे नाभिकीय ईंधन चक्र में खनन से लेकर कचरे के निपटारे तक विकिरण के खतरे के बारे में चिंता करनी पड़ती है। खदान मजदूर, खदान के नजदीक रहने वाले लोग, कर्मचारी व वैज्ञानिक जिनका रेडियोधर्मी पदार्थ से सम्पर्क हो रहा है, नाभिकीय बिजली संयंत्रों के मजदूर व इन बिजली संयंत्रों के आस-पास रहने वाले लोग सभी गम्भीर विकिरण का खतरा झेलते हैं। विकिरण के साथ ही नाभिकीय ईंधन चक्र में अन्य खतरनाक तत्व भी वातावरण में उत्सर्जित होते हैं।

जब यूरेनियम को अयस्क से अलग किया जाता है तो मिल टेलिंग कचरे के रूप में निकलता है। इनमें मौलिब्डेनम, आर्सेनिक व वैनेडियम जैसे खतरनाक भारी धातु व थोरियम-२३० और रेडियम-२२६ जैसे रेडियोधर्मी पदार्थ होते हैं। रेडियम-२२६ रेडॉन गैस में विघटित होता है जो रेडियोधर्मी पोलोनियम (धातु) में विघटित हो जाता है। यह सांस लेने की प्रक्रिया में धूल के साथ शरीर में प्रवेश कर सकता है। जो ग्रामीण जादूगोड़ा के टेलिंग ताल के नजदीक रहते हैं उनके घर जन्मजात विकृति के साथ बच्चा पैदा होने की सम्भावना तीन गुणा अधिक है। जादूगोड़ा की खदान या मिल में काम करने वाले मजदूर की दीर्घ समय की फेफड़े की बीमारी (सिलीकोसिस अथवा फेफड़े का कैंसर) की सम्भावना दस गुणा बढ़ जाती है। संयुक्त राष्ट्र के आंकड़े दिखाते हैं कि भारत में खदान व मिल में काम करने वाले मजदूर को, प्रति इकाई खनन किए गए यूरेनियम, जो विकिरण मिलता है वह विश्व औसत से दस गुणा ज्यादा होता है।^७

नाभिकीय रिएक्टर सामान्य तौर पर वातावरण में ट्रीशियम, आरगॉन-४१ व आयोडीन-१३१ उत्सर्जित करते रहते हैं। निम्न स्तर का तरल कचरा भी आस-पास जल स्रोतों में छोड़ दिया जाता है। कोटा के नजदीक स्थित रावतभाटा नाभिकीय बिजली संयंत्र के आस-पास रहने वालों लोगों के अध्ययन से मालूम हुआ कि उनके अंदर जन्मजात विकृतियों, गर्भ से बच्चा गिर जाने, मरे बच्चे पैदा होने, पैदा होने के एक दिन बाद मर जाने, सख्त ट्यूमर, कैंसर रोगियों व कैंसर से मौतों की दरें काफी बढ़ गई हैं।^८

भ्रम : रेडियोधर्मी कचरे से कोई खतरा नहीं होता ।

हकीकत : आधी शताब्दी के शोध के बाद भी वैज्ञानिक कोई ऐसी विधि नहीं खोज पाए हैं कि रेडियोधर्मी कचरे को बेअसर बनाया जा सके। इनमें से कुछ तत्व तो हजारों वर्षों तक सक्रिय रहेंगे और स्वास्थ्य व पर्यावरण के लिए खतरा बने रहेंगे। नाभिकीय प्रतिष्ठान मात्रा इतनी व्यवस्था करता है कि रेडियोधर्मी कचरा मानव सम्पर्क में न आए किन्तु इसकी भी कोई गारण्टी नहीं है। अमरीका को तो अभी तक रेडियोधर्मी कचरा दफनाने की कोई जगह ही नहीं मिल पाई है।

भ्रम : सुरक्षित स्तर से कम विकिरण घातक नहीं होता ।

हकीकत: विकिरण का कोई सुरक्षित स्तर नहीं होता। यह अब माना जाने लगा है कि विकिरण की छोटी सी मात्रा भी कैंसर की सम्भावना को बढ़ाती है। ल्यूकेमिया एक अपवाद है जिसमें विकिरण और खतरे के बीच सीधा सरल रिश्ता नहीं होता। महिलाओं व बच्चों को विकिरण ज्यादा प्रभावित करता है। हलांकि विकिरण के अध्ययन ज्यादातर आदमी को संदर्भ मान कर किए गए हैं। यह महसूस किया गया है कि विकिरण से बचाव के प्रयासों में ज्यादा संवेदनशील वर्गों जैसे औरतें, पिता बनने वाले आदमी, बच्चे, गर्भ में बच्चे को शामिल किया जाए।^६

भ्रम: पुनर्संसाधन से इस्तेमाल किए हुए ईंधन का खतरा दूर हो जाता है ।

हकीकत: पुनर्संसाधन नाभिकीय रिएक्टर में इस्तेमाल किए गए ईंधन की एक रासायनिक प्रक्रिया है। इस रासायनिक प्रक्रिया में रेडियोधर्मिता कम नहीं होती बल्कि कचरे को कुछ हिस्सों में बांट दिया जाता है। तो बजाए रेडियोधर्मिता खर्च हुए ईंधन तक सीमित रहने के पुनर्संसाधन में ठोस, तरल व गैस के रूप में कई हिस्सों में वातावरण में छोड़ दी जाती है।

पुनर्संसाधन एक खर्चीली प्रक्रिया है। इसमें काफी पूंजीनिवेश होता है। इतना कि कई बार कचरे का पुनर्संसाधन करने के बजाए सीधे उसका निपटारा आसान मालूम पड़ता है। पुनर्संसाधन का खर्च लगभग रु. २६,००० प्रति किलोग्राम खर्च हुए ईंधन आता है।^{१०} वर्तमान में परमाणु ऊर्जा विभाग इसका खर्च उत्पादित बिजली की कीमत में जोड़ने के बजाए कर देने वाले लोगों पर डाल देता है।

अमरीका सरकार के ऊर्जा विभाग की पहल ग्लोबल न्यूक्लियर एनर्जी पार्टनरशिप के नाम पर पुनर्संसाधन संयंत्र लगाने के प्रस्ताव में पर्यावरणीय खतरे हैं। इस्तेमाल किए गए ईंधन से सीज़ियम-१३७ व स्ट्रॉन्शियम-९० को अलग कर उनको सैकड़ों वर्ष तक भण्डारण में रखना जब तक उनकी रेडियोधर्मिता इतनी कम न हो जाए कि उनको निम्न स्तर के कचरे के रूप में जमीन में दफनाया जा सके खतरे से खाली नहीं है। ३० वर्ष से तो अमरीका ने, शस्त्रों की संख्या न बढ़े, इस नाते पुनर्संसाधन पर रोक लगा रखी है।

अब यदि अमरीका पुनर्संसाधन करेगा तो क्या गारण्टी है कि नए शस्त्र नहीं बनेंगे? अमरीका के ऊर्जा विभाग ने १०० अरब डॉलर के खर्च पर २५ वर्षों में अभी तक हुए पुनर्संसाधन से निकलने वाली एक प्रतिशत रेडियोधर्मिता को दफनाने लायक बनाया है। ग्लोबल न्यूक्लियर एनर्जी पार्टनरशिप के तहत जिस पैमाने पर रेडियोधर्मी कचरा निकलेगा उससे सुरक्षा व आर्थिक दोनों किस्म की चुनौतियां खड़ी होंगी (अल्वारेज़, २००७)। फ्रांस में पुनर्संसाधन उद्योग कामयाब रहा क्योंकि उनकी नीति के अनुसार उन्होंने सीधे निपटारे में जितना कचरा निकलता उससे कम कचरे को लेकर काम किया। किन्तु यह भ्रामक है यदि हम कचरे का हिसाब करें व उसको निपटाने में रेडियोधर्मिता के खतरे का तुलनात्मक आंकलन करें।

भ्रम : भारत के थोरियम भण्डार को देखते हुए यहां फास्ट ब्रीडर रिएक्टर में काफी सम्भावनाएँ हैं।

हकीकत : १९५० के दशक में परमाणु ऊर्जा विभाग ने भारत के लिए एक तीन चरण के नाभिकीय कार्यक्रम की संकल्पना की। पहले चरण में मंदक के रूप में भारी पानी के इस्तेमाल व यूरेनियम से चलने वाले रिएक्टर। दूसरे चरण में फास्ट ब्रीडर रिएक्टर जो इस्तेमाल हुए ईंधन से निकाले गए प्लूटोनियम, यूरेनियम व थोरियम, जिससे और प्लूटोनियम व यूरेनियम-२३३ का उत्पादन हो, से चलते हों। तीसरे चरण में फास्ट ब्रीडर रिएक्टर जो यूरेनियम-२३३ व थोरियम पर चलते हों। किन्तु ज्यादातर देशों, जिन्होंने फास्ट ब्रीडर के साथ प्रयोग किया, ने अब उसे छोड़ दिया है। ब्रीडर रिएक्टर में दुर्घटना, आग व लम्बे समय तक बंद रहने का खतरा रहता है और यह अन्य रिएक्टरों की तुलना में काफी मंहगे होते हैं।^{११} फ्रांस का रिएक्टर सुपरफीनिक्स दस वर्षों में सिर्फ एक वर्ष से भी कम चल पाया। थोरियम ईंधन चक्र के साथ भी समस्याएँ हैं क्योंकि इसमें से निकलने वाले कुछ आइसोटोप से उच्च ऊर्जा वाला गामा विकिरण उत्सर्जित होता है। थोरियम के सम्पर्क में जो मजदूर होंगे उन्हें विकिरण की बड़ी मात्रा मिलेगी।

भ्रम : नाभिकीय ऊर्जा सुरक्षित है।

हकीकत : भारत के सभी नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों में दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं जिससे वहां मौजूद लोगों के स्वास्थ्य व जीवन को गम्भीर खतरा उत्पन्न हुआ है। नाभिकीय कार्यक्रम का स्वरूप कुछ ऐसा है कि इसमें दुर्घटनाओं को टाला नहीं जा सकता। इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि रिएक्टर तक शीतलक ले जाने वाले पाइप से कोई रिसाव नहीं होगा, या शीतलक के वाष्पीकरण की परिस्थिति में आपातकालीन शीतलक उपलब्ध हो पाएगा (जैसा श्री माईल आईलैण्ड में हुआ जहां कोर आंशिक रूप से पिघल गया), या फिर प्रेशर वेसल में दरार नहीं पड़ेगी। ज्यादा सुरक्षा का इंतजाम करने से खर्च व पेचीदगी बढ़ते हैं, उसके बाद भी इस बात की गारण्टी नहीं रहती कि दुर्घटना नहीं होगी।

परमाणु ऊर्जा नियंत्रण बोर्ड, जो नाभिकीय कार्यक्रमों की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार है, परमाणु ऊर्जा आयोग का हिस्सा है जिसका प्रमुख परमाणु ऊर्जा विभाग का सचिव होता है। अतः परमाणु ऊर्जा नियंत्रण बोर्ड परमाणु ऊर्जा विभाग से स्वतंत्र कोई भूमिका ले ही नहीं सकता जब तक परमाणु ऊर्जा विभाग खुद जिम्मेदारी स्वीकार करने को तैयार न हो।

भ्रम : नाभिकीय ऊर्जा भविष्य की ऊर्जा है।

हकीकत : इसके जिन विकसित देशों ने नाभिकीय ऊर्जा का इस्तेमाल किया अब वे अपने कार्यक्रम बंद करने की तैयारी में हैं। ज्यादातर देशों, जैसे, अमरीका, इंग्लैण्ड, कनाडा, जर्मनी, ने तो पिछले २५ वर्षों से कोई नया नाभिकीय बिजली संयंत्र नहीं लगाया है। फ्रांस, जो वर्तमान में नाभिकीय ऊर्जा से ७५ प्रतिशत बिजली का उत्पादन कर रहा है।^{१२} भविष्य में सिर्फ एक नया संयंत्र स्थापित करने की योजना बना रहा है। जैसे-जैसे उसके पुराने संयंत्रों का जीवन पूरा होगा, बिजली में नाभिकीय ऊर्जा का हिस्सा घटेगा। ऑस्ट्रेलिया, जिसके पास दुनिया में यूरेनियम का सबसे बड़ा भण्डार है, ने अभी तक अपने नाभिकीय कार्यक्रम की शुरुआत भी नहीं की है।

योजना आयोग के एक अध्ययन, समायोजित ऊर्जा नीति, २००६, के अनुसार २०१५ तक १५,००० मेगावॉट व २०२१ तक २६,००० मेगावॉट बिजली उत्पादन क्षमता हासिल कर लेने के बाद भी, नाभिकीय ऊर्जा से बिजली का प्रतिशत कुल स्थापित क्षमता का ७ ही रहेगा। यदि किसी तरह हम ४०,००० मेगावॉट तक भी पहुँच जाते हैं तो भी वह कुल क्षमता का ६ प्रतिशत से कम ही होगा। ज्यादा सम्भावना यही है कि हम कुल क्षमता का ३-५ प्रतिशत ही हासिल कर पाएँगे।

अमरीका की एनर्जी इन्फॉर्मेशन एडमिनिस्ट्रेशन ने इण्टरनेशनल एनर्जी आऊटलुक २००७, में भविष्यवाणी की है कि २०३० तक गैस से बिजली पैदा करने की क्षमता का विकास सबसे ज्यादा मात्रा में होगा। कोयले की तुलना में गैस से कार्बन उत्सर्जन कम होता है इसलिए वह ग्रीनहाऊस गैस उत्सर्जन कम करने की दृष्टि से भी बेहतर विकल्प है। इस दृष्टिकोण से भारत को अमरीका से ज्यादा प्राथमिकता ईरान के साथ गैस पाइपलाईन वाले समझौते को देनी चाहिए। किन्तु दो-तीन दशक के बाद तो हमारी ऊर्जा सुरक्षा नीति को पुनर्प्राप्य संसाधनों, जैसे, सौर, पवन, बायोमास व माइक्रो हाईड्रिल पर ही निर्भर होना पड़ेगा। प्रमुख यूरोपीय देश व जापान पुनर्प्राप्य ऊर्जा प्रौद्योगिकी को बड़े पैमाने पर और व्यवसायिक विकास हेतु राज्य का सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

भ्रम : ऊर्जा की खपत आर्थिक विकास का पैमाना है।

हकीकत : यह एक भ्रामक धारणा है। विकास बुद्धिमानी पूर्वक ऊर्जा, जो जरूरी नहीं कि बिजली के रूप में ही हो, के उपयोग पर निर्भर करता है। ऊर्जा खपत व सकल घरेलू

उत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन करने पर मालूम होता है कि समान ऊर्जा खपत पर, प्रति व्यक्ति, डेनमार्क, तत्कालीन पश्चिमी जर्मनी व स्वीडेन का सकल घरेलू उत्पाद इंग्लैण्ड से करीब दो गुणा रहा। इसी तरह ऊर्जा की कमी त्रुटिपूर्ण भविष्यवाणी पर आधारित होती है।^{१३}

भ्रम : भविष्य की बिजली की जरूरत को पूरा करने के लिए नाभिकीय ऊर्जा का कोई विकल्प नहीं है।

हकीकत : जबकि ५० वर्षों से ज्यादा के पूंजीनिवेश से हम नाभिकीय ऊर्जा से मात्र ४७८० मेगावॉट बिजली उत्पादन की क्षमता विकसित कर पाए हैं, पवन ऊर्जा से सिर्फ एक दशक में बहुत कम पूंजी लगा कर ५३८२ मेगावॉट बिजली उत्पादन की क्षमता विकसित कर ली गई है। सिर्फ पवन ऊर्जा के क्षेत्र में ही ४५,००० मेगावॉट बिजली उत्पादन की क्षमता विकसित किए जाने की सम्भावना है। सौर व बायोगैस भी ऊर्जा की सम्भावनाओं के भरपूर स्रोत हैं। किन्तु सरकार ने पुनर्प्राप्य संसाधनों के ऊर्जा कार्यक्रम को बढ़ावा नहीं दिया है। २००२-०३ में परमाणु ऊर्जा विभाग का बजट था रु. ३३.५ अरब जबकि गैर पारम्परिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय को रु. ४.७ अरब आवंटित किए गए थे जिसमें सौर, पवन, माइक्रो हाईडेल व बायोमास आधारित ऊर्जा शामिल थी। इन स्रोतों में से कुछ नियमित ऊर्जा प्रदान नहीं कर सकते किन्तु उनके रख-रखाव का खर्च काफी कम है, विकेंद्रित ढंग से समुदाय आधारित उत्पादन हो सकता है और कोयले या नाभिकीय की तुलना में इनसे पर्यावरण को बहुत कम खतरा है। भारत को नाभिकीय ऊर्जा की तुलना में इस पुनर्प्राप्य ऊर्जा प्रौद्योगिकी पर भरोसा करना चाहिए।^{१४} हमें नाभिकीय ऊर्जा पर अत्यधिक ध्यान देने से पुनर्प्राप्य विकल्पों को विकसित करने का मौका ही नहीं मिला है।

भ्रम : नाभिकीय ऊर्जा का बड़े पैमाने पर विस्तार सम्भव है।

हकीकत : फास्ट ब्रीडर रिएक्टर की अत्याधिक कीमत की वजह से इसका विस्तार सम्भव नहीं है। भारी पानी आधारित संयंत्र भी कम कीमत पर उत्पादन नहीं कर पा रहे। बाजार ने भी नाभिकीय ऊर्जा के विकास पर अंकुश लगाया है। अब लोग भी इसका विरोध करने लगे हैं जिससे इसका विस्तार और मुश्किल होगा।

भ्रम : नाभिकीय ऊर्जा से वैश्विक तापमान वृद्धि का समाधान हो सकता है।

हकीकत: जलवायु परिवर्तन की बहस में जैसा दावा किया जाता है कि नाभिकीय ऊर्जा पर्यावरण की दृष्टि से साफ-सुथरी है वैसी तो सच्चाई नहीं है क्योंकि नाभिकीय ईंधन चक्र में कई रेडियोधर्मी व खतरनाक तत्व निकलते हैं। नाभिकीय ऊर्जा कार्यक्रम में कार्बन के बजाए रेडियोधर्मिता का खतरा है। वैसे भी नाभिकीय ऊर्जा सभी किस्म के कार्बन उत्सर्जन का हल नहीं दे सकती। उदाहरण के लिए यातायात से तो कार्बन उत्सर्जन होता ही रहेगा।

नाभिकीय ऊर्जा कार्यक्रम के विकास की सीमाओं को देखते हुए वह जलवायु परिवर्तन को कम करने में कोई निर्णायक भूमिका अदा नहीं कर सकता। भारत के बिजली उत्पादन में नाभिकीय ऊर्जा का कोई बड़ा हिस्सा नहीं होने वाला और भारत की हाईड्रोकार्बन पर निर्भरता बनी रहेगी। नाभिकीय ऊर्जा से वैश्विक तापमान वृद्धि को रोका जा सकता है यह एक भ्रामक प्रचार है क्योंकि ऐसा होने के लिए हरेक हफ्ते एक नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र स्थापित होना चाहिए। जलवायु परिवर्तन का जवाब है ऊर्जा खपत के वैकल्पिक तरीके, वैकल्पिक जीवन पद्धति, पुनर्प्राप्य ऊर्जा संसाधनों का उपयोग और बिजली का बेहतर उपयोग। ऊर्जा आपूर्ति में बढ़ोत्तरी के बजाए ऊर्जा की बचत आसान, सस्ता व जल्दी हासिल किया जा सकने वाला उपाय है जिसका फायदा दीर्घकालिक है। कुछ तरीके जो हम अपना सकते हैं वे हैं भवनों में सौर प्रकाश का उपयोग, बेहतर हवा का बहाव, ताप से प्रभावित न होना, बिजली व पानी बचाना, कागज, शीशे, प्लास्टिक, पैकेजिंग सामग्री का पुनर्उपयोग, यातायात व नियोजन नीति ताकि अनावश्यक यात्राएं न करनी पड़ें, गैर मोटर वाहनों का प्रयोग।⁹⁴

भ्रम : वैश्विक नाभिकीय निःशस्त्रीकरण असम्भव है।

हकीकत : दुनिया में तीन देशों को छोड़ कर सभी मुल्कों ने नाभिकीय अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर किए हैं जिसकी प्रस्तावना में लिखा है :

‘अंतरराष्ट्रीय तनाव खत्म करने व राष्ट्रों के बीच विश्वास को मजबूत करने के उद्देश्य से नाभिकीय शस्त्रों के निर्माण पर रोक, भण्डारण किए गए जखीरे को समाप्त करना व राष्ट्रीय शस्त्रागार से नाभिकीय शस्त्रों और उनको लक्ष्य तक पहुंचाने के साधन को समाप्त करना।’

नाभिकीय अप्रसार संधि के अनुच्छेद ६ से सदस्य नाभिकीय शस्त्र सम्पन्न राष्ट्रों से कहा गया है कि ‘वे पूरी निष्ठा के साथ बातचीत करें ताकि जल्दी से जल्दी नाभिकीय शस्त्रों की होड़ पर रोक लगे व नाभिकीय निःशस्त्रीकरण हासिल किया जा सके।’

अमरीका व सोवियत संघ (अब रूस) ने अपने नाभिकीय शस्त्रों के जखीरे को लगभग आधा कम किया है और पांचों नाभिकीय शस्त्रों सम्पन्न राष्ट्रों जिन्होंने नाभिकीय अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर किए हैं अब नए शस्त्र बनाने हेतु विघटीय पदार्थ, प्लूटोनियम या उच्च संवर्द्धित यूरेनियम, का उत्पादन नहीं कर रहे।⁹⁵

ऐसे देश हैं जिन्होंने अपने नाभिकीय शस्त्र पूरी तरह से समाप्त किए। दक्षिण अफ्रीका ने अपना छोटा सा भण्डार खत्म किया। सोवियत संघ के विघटन के बाद कजाकिस्तान, बेलारूस व यूक्रेन के हिस्से में जो नाभिकीय शस्त्र आए वे उन्होंने नहीं लिए।

अर्जेण्टीना, ब्राज़ील, स्वीडेन व स्विट्जरलैण्ड किसी न किसी बिन्दु पर नाभिकीय शस्त्र बनाने की कोशिश में लगे थे लेकिन जब उनको इन शस्त्रों की अनुपयोगिता का एहसास हुआ तो उन सभी ने अपने-अपने कार्यक्रम बंद किए।

दुनिया के बहुसंख्यक देश तो वैसे भी नाभिकीय शस्त्र मुक्त क्षेत्र का हिस्सा होने के कारण नाभिकीय शस्त्र न बनाने के लिए संकल्पबद्ध हैं।

अतः ज्यादातर दुनिया तो नाभिकीय निःशस्त्रीकरण चाहती है लेकिन नौ देश अभी भी इन शस्त्रों को रखे हुए हैं। ज्यादातर समाज भी हथियार न रखने में ही सुरक्षित महसूस करता है किन्तु कुछ लोग होते हैं जो न सिर्फ हथियार रखने में प्रतिष्ठा महसूस करते हैं बल्कि अपने हथियारों का प्रदर्शन भी करते हैं। बहुसंख्यक तो ठीक सोच वाले ही हैं। समाज को खतरा उन थोड़े से लोगों से होता है जो ताकत के बल पर दंबंग बनना चाहते हैं। भारत को तय करना है कि वह किस समूह में रहना पसंद करेगा।

जिन लोगों ने नाभिकीय शस्त्रों की त्रासदी झेली है उनका तो मानना है कि मनुष्य व नाभिकीय शस्त्रों का कोई सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता।⁹⁹ अमरीका में एक सर्वेक्षण के मुताबिक ७० प्रतिशत लोग वैश्विक नाभिकीय निःशस्त्रीकरण के पक्ष में हैं।¹⁰⁰ २००५ में दिल्ली से मुल्तान तक निकाली गई एक शांति पदयात्रा में भी हस्ताक्षर अभियान पर लोगों का समर्थन लेते वक्त यह तथ्य सामने आया कि दोनों मुल्कों में आम लोग नाभिकीय निःशस्त्रीकरण ही चाहते हैं। कुछ भूतपूर्व शीत युद्ध के कर्णधार भी अब मानने लगे हैं कि वैश्विक स्तर पर नाभिकीय निःशस्त्रीकरण होना चाहिए।¹⁰¹

जैसे-जैसे राष्ट्रों को यह समझ में आएगा कि असली सुरक्षा तो लोगों की आर्थिक व सामाजिक तरक्की में है तथा दूसरे मुल्कों के साथ ऐसे संबंध बना कर जीने में जिसका आधार विश्वास हो, तो विश्व स्तर पर नाभिकीय शस्त्रों को समाप्त करने की दिशा में प्रगति होगी।

भ्रम: नाभिकीय शस्त्रों को हासिल करने से दुनिया के राष्ट्रों के समुदाय में प्रतिष्ठा बढ़ती है।

हकीकत: नाभिकीय शस्त्र सम्पन्न राष्ट्रों में कोई एक समानता है तो वह है लोकतंत्र व अपने लोगों के प्रति तिरस्कार की भावना।¹⁰² अमरीका में नाभिकीय युद्ध की तैयारियों को प्रभावित करने में संसद असहाय महसूस करती है तथा राष्ट्रपति को प्रक्रिया की बहुत सतही जानकारी होती है।¹⁰³ ज्यादातर देशों में सुरक्षा के नाम पर गोपनीयता को जायज ठहराया जाता है। कोई भी नाभिकीय शस्त्र सम्पन्न देश अपने नाभिकीय कार्यक्रम संबंधित जानकारी अपने नागरिकों को नहीं देता। हाल का ही उदाहरण देखें तो भारत अमरीका नाभिकीय समझौता बिना भारत की संसद की स्वीकृति के स्वीकार हो गया जबकि भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा के पहले प्रस्ताव के रूप में नाभिकीय निःशस्त्रीकरण के महत्व को रेखांकित करने के अलावा १९६१ में संयुक्त राष्ट्र संघ में यह घोषणा हुई कि “कोई भी देश यदि नाभिकीय शस्त्रों या ताप-नाभिकीय शस्त्रों का इस्तेमाल करता है तो इसे संयुक्त राष्ट्र की संहिता का उल्लंघन, मानवता के कानूनों का हनन और मावन जाति व सभ्यता के खिलाफ अपराध

माना जाएगा।” इसलिए नाभिकीय शस्त्र धारण करना कोई प्रतिष्ठा की बात नहीं हो सकती। लेकिन दुर्भाग्य से नाभिकीय शस्त्रों के होने से एक वर्चस्व तो कायम होता है। हालाँकि यह एक नकारात्मक अर्थ में है लेकिन कई देश इस वर्चस्व को हासिल करने की महत्वाकांक्षा रखते हैं।

कई ऐसे देश हैं जिन्होंने नाभिकीय शस्त्र बनाने की कोशिश की, जैसे उत्तर कोरिया, इराक व ईरान, जिनका दुनिया के देशों ने बहिष्कार किया व इन्हें असामाजिक राष्ट्रों की श्रेणी में रखा गया। चूंकि ये नाभिकीय शस्त्र बनाने की होड़ में लगे थे दुनिया में इनके बारे में लोगों की राय बहुत अच्छी नहीं थी। पाकिस्तानी वैज्ञानिक ए.क्यू. खान, जिन्होंने पाकिस्तान के लिए नाभिकीय शस्त्र हासिल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई आज अपने घर में नजरबंद हैं क्योंकि उनके ऊपर नाभिकीय सामग्री की काला बाजारी चलाने का आरोप है। अतः नाभिकीय शस्त्रों के साथ हमेशा प्रतिष्ठा ही नहीं जुड़ी होती।

संदर्भ

१. कोर्टराइट व मट्टू, १९९६
२. http://www.jadugoda.net/Accidents/rti/page_1.jpg, http://www.jadugoda.net/Accidents/rti/page_2.jpg
३. रमणा, डी सा व रेड्डी, २००५
४. रमणा, २००७
५. बिदवई व रमणा, २००७
६. मुस्तफा, २००७
७. यू.एन.एस.सी.ई.ए.आर., १९९३
८. गाडेकर व गाडेकर, १९९६
९. साईस एण्ड डेमोक्रेटिक एक्शन, २००७
१०. रमणा व सुचित्रा, २००७
११. रमणा व सुचित्रा, २००७
१२. www.uic.com.au
१३. फ्रेण्ड्स ऑफ द अर्थ, १९८२
१४. सुचित्रा व रमणा, २००६
१५. फ्रेण्ड्स ऑफ द अर्थ, १९८२
१६. मियां, नैयर, राजारमण व रमणा, २००६
१७. हिरोशिमा पीस मेमोरियल म्यूजियम, २००२
१८. जस्ट सिक्वोरिटी, २००७
१९. शुल्ज़, पेरी, किंसिंजर, नन, २००७
२०. मियां, २००६
२१. नैचुरल रिसोर्सेज डिफेन्स काऊंसिल, २००१

नोट : प्रस्तुत आलेख लेखक की इसी विषय पर प्रस्तावित पुस्तक का एक संशोधित अंश है-संपादक संशोधन-मिथिलेश, जाकिर हुसैन अध्ययन केंद्र, म.गा.अ.हि.वि.वि., वर्धा

उपभोक्ता संस्कृति तथा भारत में नया मध्य वर्ग नदीम हसनैन

पिछले २-३ दशकों में जिस प्रकार से भारतीय समाज में विशेषकर मध्य वर्ग में उपभोक्तावाद व उपभोग संस्कृति ने अपना स्थान बनाया है, उस पर गंभीर विमर्श हो रहा है। भारतीय समाज के लिए यह एक विचारणीय मुद्दा है।

इस विषय पर चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले आवश्यक है कि यह स्पष्ट कर दिया जाये कि इस चर्चा में वर्ग को मैक्स वेबर की अवधारणा के सन्दर्भ में ही देखा जाये ना कि मार्क्सवादी अर्थों में। वेबर की सामाजिक वर्गों की अवधारणा व वर्गीकरण इस चर्चा का मुख्य आधार है। इस के अलावा यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मध्यम वर्ग पूर्णतः कोई समरूप/एकरूप श्रेणी नहीं है और इस के कुछ सदस्य व्यक्तिगत स्तर पर विभिन्न विविधतायें दर्शाते हैं। फिर भी वर्गीकरण व व्याख्या के स्तर पर यह एक सामाजिक श्रेणी में रूप में देखा जा सकता है। वैश्वीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया इस लेख की पृष्ठभूमि है, यह भी ध्यान में रखना होगा।

उपभोक्तावाद की अवधारणा को समझने का शायद आसान तरीका यह हो सकता है कि यह एक ऐसी प्रवृत्ति या प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है जब समाज का कोई वर्ग उत्पाद व सेवाओं को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं से अधिक खरीदता या उपभोग करता है। उपभोग कोई बुरी बात नहीं है। यह मानव के अस्तित्व का एक अभिन्न अंग रहा है जिसको उत्पादन, वितरण व उपभोग के त्रिकोण के रूप में देखा जा सकता है। सरल या आदिम समाज भी उपभोग के बिना जीवित नहीं रह सकते क्योंकि बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति या संतुष्टि होना जरूरी है लेकिन यहाँ आम तौर पर उत्पादक ही उपभोक्ता होता है और वह प्रकृति से उतना ही लेते हैं जितनी आवश्यकता होती है।

आधुनिक सभ्यता ने उपयोग का दायरा बहुत बढ़ा लिया जिससे सतत् विकास के लिए खतरा पैदा हो गया है। पश्चिमी समाज विशेषकर अमरीका उपभोगवाद की चरम सीमा पर पहुँच चुका है। अमरीका के किसी भी शहर में घर के बाहर लान में घरेलू वस्तुओं का ढेर लगा देखा जा सकता है जिसको 'गैराज सेल' के नाम पर या तो औने-पौन दाम पर बेचा जाता है या अक्सर गुजरने वाले अड़ोसी-पड़ोसी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इसमें से कोई सामान वैसे ही मुफ्त में उठा ले जाये क्योंकि उसको लादकर किसी दूरदराज के स्थान पर उसका निस्तारण करना अधिक महँगा पड़ता है। किफायती स्टोरों में इस्तेमाल किये गये कपड़ों के अलावा नये कपड़े भी बहुत सस्ते में बिकते दिखाई देते हैं। यह अधिकतर वह कपड़े होते हैं जिन्हें सिलवाया गया हो न कि रेडीमेड खरीदा गया है। कपड़े सिलकर मिलने में इतना समय लग जाता है कि उस के उपभोक्ता तक पहुँचने पर फैशन बदल सकता है और यह नया कपड़ा या सूट एकाध बार पहनकर या बिना पहने ही अक्सर उन किफायती स्टोरों (Thrift Stores) को दे दिया जाता है जो धर्मार्थ गतिविधियाँ चलाते हैं। कहा जा सकता है कि किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह तय करे कि दूसरे के लिए क्या और कितना उत्पाद जरूरी है या जरूरत तथा विलासिता व एय्याशी के बीच अन्तर, को निर्धारित करे। अगर हम यह तर्क स्वीकार कर लें तो 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा का परित्याग करना पड़ेगा क्योंकि इन खुशहाल समाजों में भी एक वर्ग गरीबी में जी रहा है।

उपभोक्तावाद पर आधारित संस्कृतियों को 'उपभोक्ता संस्कृति' कहा जा सकता है। यह सामाजिक घटना वैश्विक है और पूँजीवादी या पूँजीवाद उन्मुख अर्थव्यवस्थाओं में अपनी मौजूदगी दर्शाती है। उपभोक्ता संस्कृति को ऐसी संस्कृति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें उपभोक्ताओं का बहुसंख्य ऐसे उत्पादों व सेवाओं को हासिल करता है यह हासिल करने की प्रबल इच्छा रखता है और उसका प्रदर्शन करता है जो अधिकतर गैर-उपयोगी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हो जैसे अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊपर उठाना, दूसरों में ईर्ष्या व स्पर्धा को उत्तेजित करना या हर समय नई वस्तुओं या नयेपन के पीछे भागना। उपभोक्ता संस्कृति में रहने वाले उपभोग के लिए उत्पाद व सेवाओं को विनिमय के द्वारा हासिल करते हैं न कि स्वयं उत्पाद के द्वारा जैसे सरल समाजों में देखा जा सकता है। पूरी दुनिया में देखा जा सकता है कि उपभोक्ता संस्कृति स्थापित हो जाने पर सामुदायिक भावना, ईमानदारी व अध्यात्म का हास हो जाता है और सामाजिक मूल्य व्यवस्था प्रतिस्पर्धा व निर्मम भौतिकवाद की ओर उन्मुख हो जाती है। संस्कृति अपने आप में इतनी बहुआयामी है कि एक ओर उपभोक्ता संस्कृति देखी जा सकती है तो दूसरों और इन्हीं समाजों में 'निर्धनता की संस्कृति' भी मौजूद रहती है जिसका प्रतिपादन जाने माने अमरीकी मानवशास्त्री आस्कर लेविस ने किया है और जिस संस्कृति में गरीबी के सार्वभौतिक आयाम ही संस्कृति का आधार बनते हैं। उपभोक्ता संस्कृति की तरह निर्धनता की संस्कृति की मूल विशेषतायें व लक्षण सार्वभौमिक रूप से देखे जा सकते हैं।

इस लेख में मध्य वर्ग को आमतौर पर प्रचलित अवधारणा के रूप में समझा गया है न कि गंभीर अकादमिक विमर्श के संदर्भ में। अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह व्यक्तियों की वह श्रेणी है जिस के पास 'रोटी कपड़ा और मकान' पर खर्च करने के बाद भी उसकी आमदनी का एक तिहाई भाग या उससे अधिक बच जाता है। समाजशास्त्री/मानवशास्त्री इस में रहने वालों को एक वर्ग/श्रेणी के रूप में चिन्हित करते हैं जिसमें व्यवसायी, दुकानदार/व्यापारी, जो अपने मुलाजिमों के साथ काम करते हैं, आदि शामिल किये जाते हैं।

भारतीय समाज के संदर्भ में जब हम नये मध्य वर्ग की बात करते हैं तब स्वतः पुराने मध्यवर्ग की बात आ जाती है। पारम्परिक या पुराने मध्य वर्ग को उपनिवेशी काल से लेकर स्वतंत्रता पश्चात्, १९६० या १९७० के दशकों तक देखा जा सकता है। यह भी पूर्णतया समरूप नहीं था और इस में भी कुछ विविधतायें थीं। यह पुराना मध्य वर्ग काफी हद तक अपनी सत्यनिष्ठा, सैद्धान्तिक गुण, सामाजिक सरोकार, व सामुदायिक भावना के कारण जाना जाता था। इसमें अधिकतर लोग आर्थिक रूप से सुरक्षित परिवारों से आते थे और अपनी सामाजिक-नैतिक व्यवस्था के साथ जीते थे, इन्होंने सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों में भागीदारी की, यह स्त्रियों की दशा को लेकर भी चिंतित थे और यह लोग राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रोत्साहित कर रहे थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने अपने चारों ओर एक 'लक्ष्मण रेखा' खींच ली थी और उसको लाघने में बहुत झिझकते थे।

इसके विपरीत आज का नया मध्य वर्ग वैश्वीकरण व आधुनिकीकरण की पैदावार है। यह उच्च शिक्षित वर्ग है जिस के पास व्यवसायिक और तकनीकी विशेषज्ञता है। नया मध्य वर्ग व्यवसाय व शिक्षा पर बहुत बल देता है और इस की आमदनी विभिन्न रोजगारों से मिलती बड़ी तनख्वाहों से आती है न कि संपत्ति स्वामित्व से जैसा कि पुराने मध्य वर्ग के साथ था। यह सभी जातियों से आते हैं, दतारों में काम करते हैं और प्रबंधक भूमिका रखते हैं। नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लाइड ईकोनामिक रिसर्च (एन.सी.ए.ई.आर.) का २००१-२००२ का सर्वेक्षण इस वर्ग की औसत सालाना आय २-१० लाख के बीच आँकता है और ऐसे लोगों की कुल जनसंख्या लगभग एक करोड़ के बीच बताता है। वर्तमान में इनकी आय ६-१५ लाख रुपये के बीच होनी चाहिए और इनकी संख्या २-३ करोड़ के बीच। यही वर्ग उपभोक्ता संस्कृति का मुख्य पोषक है और एक नयी सामाजिक मूल्य व्यवस्था का मशालबरदार भी। बहुत से सिद्धान्तकार उपभोक्ता संस्कृति को औद्योगिक-पूँजीवादी उत्पादन से जोड़ते हैं। यहाँ भारत में औद्योगिक पूँजीवाद के इतिहास को दोहराने का समय नहीं है और पाठक इससे बखूबी परिचित होंगे।

१९६० के दशक में आयी नयी औद्योगिक व आर्थिक नीति को इस संदर्भ में मील का पत्थर माना जा सकता है जिसने न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को भी जन्म दिया। बहुराष्ट्रीय व कारपोरेट घरानों ने भारत में असीम संभावनायें देखीं और भारतीय बाजार को अपनी नई मंजिल बनाया। इस नयी व्यवस्था ने एक नई

उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया जो नये मध्य वर्ग के बिल्कुल अनुकूल थी। इस नये मध्य वर्ग के पास नई परिस्थितियों में अनुकूलन करने के लिए आवश्यक कौशल भी था और इस लिए वे इसमें पारंगत हो गये। आर्थिक सुधारों की नई लहर ने भारत की सीमाओं के बाहर भी रोजगार व व्यापार के अनेकों रास्ते खोल दिये। खाड़ी के देशों, सउदी अरब, सिंगापुर, मलेशिया, हांगकांग, कनाडा जैसे देशों ने नये अवसरों के दरवाजे खोल दिये। बड़ी तनख्वाहों के साथ यह नया मध्य वर्ग भारत के पर्दे पर नये नायक के रूप में उभरा। यह वर्ग अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में लग गया और ऊँचे रोजगार व ऊँची आमदनी ने उसको सामाजिक प्रस्थिति के नये प्रतीकों को गढ़ने व हासिल करने में भी बड़ी सहायता की। अब मझोले शहरों में भी माल व मल्टीप्लेक्स खुल चुके हैं और एक नये 'माल कल्चर' का जन्म हो चुका है। विदेशी ब्रांडेड कपड़ों, दूसरे उत्पादों व व्यंजनों ने इस वर्ग को एक नई पहचान दी है। विदेशी और महंगे सौन्दर्य प्रसाधन, इलेक्ट्रानिक उत्पाद, संगीत की मशीनें, नये सेलफोन, नये टी.वी. सेट, हेल्थक्लब, जिमनेजियम, विलासिता के रिजोर्ट, क्लब आदि इसके स्टेटस सिंबल हैं। ऐसे महंगे क्लबों और रिजोर्टों में विवाह से लेकर जन्मदिन की पार्टियाँ होती हैं जिनपर लाखों रुपये खर्च होते हैं। इन पार्टियों में जाने से पहले पुरुष व महिला दोनों, महंगे हेयर स्टाइल पार्लर, ब्यूटी पार्लरों में जाते हैं, जहाँ नाखूनों और पैरों की सज्जा भी महंगे दामों पर होती है। ऐसे अवसरों पर महंगे उपहारों का आदान-प्रदान होता है।

जाहिर है कि यह विलासिता बड़ी प्रयोज्य आमदनी (Disposable Income) के कारण ही संभव हुई है। यह कहना गलत नहीं होगा कि २१-३० वर्ष के आयु वर्ग के लोगों के पास इतनी नकद आमदनी कभी नहीं थी। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि यह गैर उपयोगी मदों पर बड़ा खर्च कर सकते हैं लेकिन किसी अच्छे व सामाजिक सरोकार की मद में थोड़ा पैसा भी मुश्किल से खर्च करते हैं। मशहूर फ्रेंच समाजशास्त्री बोरदियो का कहना है कि उत्पाद या सामान किसी समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच भेद दर्शाने के महत्वपूर्ण साधन होते हैं। ऐसे सामानों व उत्पादों को हासिल करने के लिए स्पर्धा की अंधी दौड़ शुरू हो जाती है क्योंकि यही उनके और दूसरों के बीच पहचान करने में सहायक होते हैं। ऐसी वस्तुओं का स्वामित्व इस वर्ग के सदस्यों को ऊपर उठती सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह लोग ऐसा भी महसूस करते हैं कि इन सबसे उनका सशक्तिकरण हुआ है।

इस प्रकार हम यह पाते हैं कि उपभोक्ता संस्कृति अपने लोगों की उस तलाश में भी सहायक होती है जिस के द्वारा वह अपने जीवन में नये अर्थ पाते हैं। उपभोक्ता संस्कृति उत्पादों व संसाधनों की बर्बादी को भी प्रोत्साहित करती है क्योंकि अपव्यय उनकी सामाजिक प्रस्थिति को बढ़ाता है। उदाहरण के तौर पर महंगे रेस्टोरेन्ट में खाना प्लेटों में छोड़ देना क्योंकि पूरी तरह से साफ प्लेट उपभोक्ता की कमजोर स्थिति को दर्शा सकती है, ऐसा वह मानते हैं। वैसे अपव्यय और बर्बादी कुछ जनजातीय समाजों में भी देखी जा

सकती है जैसे अमरीका की क्वाकयुटल जनजाति 'पोटलाश' नामक एक दावत करती है जिसके बाद दावत देने वाला समाज के उस आदमी के घर के सामने काडलिवर तेल (जो एक प्रकार की विशेष मछली से निकलता है और बहुत महँगा होता है) का पूरा ड्रम आग के हवाले कर देता है, जिससे उसकी सामाजिक प्रतिस्पर्धा हो और जिसके मुकाबले वह अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊपर करना चाहता हो। जाने माने मानवशास्त्री जूलियन स्टीवर्ड का मानना है कि प्रतिव्यक्ति ऊर्जा उपभोग (या बर्बादी?) सभ्यता के उद्विकास की द्योतक है। देखा गया है कि इस नये मध्यवर्ग के सदस्य अपने से नीची प्रस्थिति में रहने वालों को बड़े तिरस्कार से देखते हैं जो इस पदानुक्रम में ऊपर उठने का प्रयास कर रहे हों। उत्तरी भारत में 'भय्या', 'बहनजी' तथा बी.टी.एम. (बहन जी ट्राइंग टू बिकम मार्डन) जैसे तिरस्कार से भरे मुहावरे ऐसे लोगों के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। यकीनन इस के पर्याय देश के दूसरे भाषाई क्षेत्रों में भी मिलेंगे।

नये मध्य वर्ग की मजबूरी यह है कि जब एक नये प्रकार की जीवन पद्धति 'मुख्य धारा' बन जाती है तो उसमें सहभागी न होना उन्हें इस वर्ग के हाशिये पर डाल सकता है। इस प्रकार इस घटना को भयग्रस्त प्रस्थिति (Status Panic) की संज्ञा दी जा सकती है। कई क्रेडिट कार्ड रखना और पर्स खोलकर उसका प्रदर्शन करना भी इस वर्ग की प्रस्थिति का प्रतीक माना जाता है। उपभोगवादी बाजारी रणनीति इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। बढ़ती हुई दहेज की माँग भी उपभोक्ता संस्कृति से सीधी जुड़ जाती है। इसके अतिरिक्त पुत्र की इच्छा केवल धार्मिक-अनुष्ठानिक कारणों से नहीं है बल्कि इसके पीछे उपभोक्ता संस्कृति भी देखी जा सकती है क्योंकि अभी भी अधिकांश तौर पर लड़के ही बड़ी आमदनी का स्रोत हैं। देश के विभिन्न भागों में 'हरित क्रान्ति' ने ग्रामीण भारत में भी ऐसे उपभोक्ता संस्कृति में लिप्त नये मध्य वर्ग को जन्म दिया है।

उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ाने में मीडिया ने बहुत प्रभावी भूमिका निभाई है। देखा जा सकता है कि अधिकतर प्रिंट व इलेक्ट्रानिक मीडिया कारपोरेट घरानों के स्वामित्व में हैं और उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा देने में इनके निहित स्वार्थ हैं। नई ब्राडकास्टिंग नीति ने सैकड़ों टी.वी. चैनलों के लिए दरवाजे खोल दिये हैं जो चौबीसों घंटे उपभोग का प्रचार-प्रसार करते रहते हैं। नई तकनीक से लैस उच्च स्तर पर दबाव बनाने वाले विज्ञापन खरीदार की मानसिकता को तेजी के साथ बदल देते हैं। महान चिंतक चोम्सकी ने अपने एक महत्वपूर्ण शोध में मीडिया, उपभोक्ता तथा कारपोरेट के बीच बनने वाले त्रिकोण पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि मीडिया-कारपोरेट मिलकर उपभोक्ता को गुमराह और दिशाभ्रमित करते हैं क्योंकि उस के लिए उपभोक्ता भी उत्पाद की तरह है जिस को तिकड़मी मीडिया निजी कारपोरेशन को बेच देता है। मीडिया नये बिम्बों, छवियों और प्रतीकों को गढ़ता है और उपभोक्ता इसमें आसानी से गिर जाता है। चोम्सकी का यह भी कहना है कि मीडिया एक महत्वपूर्ण व प्रभावी वैचारिक हथियार के तौर पर भी काम कर रहा है और उपभोक्तावाद व भौतिकवाद को बढ़ावा देकर नई उपभोक्ता माँगों

को पैदा करता है। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि वैश्वीकरण व नई आर्थिक नीतियों ने निजीकरण को बढ़ावा देकर एक ऐसी उपभोक्ता संस्कृति को पैदा किया है जिसके शिकंजे में भारत का नया मध्य वर्ग पूरी तरह से आ चुका है। निदा फाज़ली ने क्या खूब कहा है :

ये शहर है कि नुमाइश लगी हुई है कोई।
जो आदमी भी मिला, बन के इश्तेहार मिला।

राम शरण शर्मा ने बदली इतिहास की भूमिका सुरेश शर्मा

राम शरण शर्मा देश के जाने-माने इतिहासकार थे। २० अगस्त २०११ को ६२ साल की उम्र में उनका निधन हो गया। उनके गुजर जाने के बाद दिल्ली के नेहरू स्मारक संग्रहालय में एक श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया था। उसमें 'आधुनिक भारत' के विख्यात इतिहासकार विपन चंद्र ने जो बात कही वह राम शरण शर्मा के महत्व को दर्शाने के लिए काफी है। डॉ. विपन चंद्र ने कहा कि डी.डी. कौशाम्बी के बाद राम शरण शर्मा सबसे महान इतिहासकार हैं। इसी सभा में रोमिला थापर, इरफान हबीब, डी.एन. झा तथा सतीश चंद्रा जैसे इतिहासकारों ने भी एक स्वर में कहा कि श्री शर्मा इस दौर के सर्वाधिक महत्वपूर्ण इतिहासकार थे।

एक इतिहासकार के रूप में राम शरण शर्मा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका इतिहास लेखन वर्तमान में हस्तक्षेप करता है। वह वर्तमान को सही दिशा में गतिशील करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाता है। यह भूमिका निर्णायक होती है।

अयोध्या में मंदिर-मस्जिद विवाद जब चरम पर था तो उनकी एक पुस्तिका आई 'कम्युनल हिस्ट्री एंड समाज अयोध्या'। इसमें शर्मा जी ने यह खोज सामने रखी कि मध्यकाल से पहले अयोध्या धार्मिक स्थल नहीं था। उन्होंने बताया कि 'विष्णु स्मृति' के ८५ वें अध्याय में प्राचीन भारत के धार्मिक स्थलों, नदियों और पहाड़ों की विस्तार से चर्चा की गई है। उनमें कहीं भी अयोध्या का नाम नहीं है। उन्होंने तर्क दिया कि १५७४ में तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की रचना की लेकिन उसमें कहीं भी उन्होंने अयोध्या को तीर्थस्थल के रूप में वर्णित नहीं किया है। हालाँकि इस तथ्य को साबित करने में उन्हें थोड़ी परेशानी हुई थी कि बाबरी मस्जिद किसी मंदिर को तोड़ कर नहीं बनी है! बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद शर्मा जी ने एम. अतहर अली और द्विजेन्द्र नाथ झा के साथ मिल कर एक परिपत्र निकाला था- 'हिस्टोरियन रिपोर्ट टु नेशन'। इसमें बताया गया था कि मुस्लिम आस्था की प्रतीक बाबरी मस्जिद का ध्वंस कितना अनैतिक और सामाजिक समरसता भंग करने

वाला कृत्य था। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापनाओं का प्रभावी ढंग से खंडन करने वाले इस रिपोर्ट का लगभग सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ था। अयोध्या को लेकर तेजी से विस्तार पा रहे सांप्रदायिक सोच बदलने में इस रिपोर्ट ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। सामाजिक सौहार्द की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण था। राम शरण शर्मा का यह प्रयास साबित करता है कि एक इतिहासकार तात्कालिक वर्तमान में हस्तक्षेप कर के पूरे परिदृश्य को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

इसी तरह जब सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा 'राम सेतु' का मुद्दा उठाया गया तो इतिहासकार राम शरण शर्मा ने सीधा हस्तक्षेप किया। इस स्थापना की जोरदार पुष्टि की जा रही थी कि 'राम सेतु' लंका युद्ध के समय राम और उनकी सेना द्वारा निर्मित किया गया था। इस वैज्ञानिक तथ्य को अनदेखा किया जा रहा था कि सघन लहरों के लगातार दबाव से पुल जैसी इस प्राकृतिक निर्मिति ने आकार लिया है। राम सेतु निर्माण की जांच के लिए भारत सरकार ने एक समिति बनाई। इस समिति में दो नौकरशाह और एक इतिहासकार राम शरण शर्मा थे। तथ्यों की वैज्ञानिक और ऐतिहासिक जांच के बाद अंततः इस पुल को प्राकृतिक निर्मिति बताते हुए राम द्वारा निर्मित पुल की अवधारणा का खंडन किया गया। उसके बाद ही राम सेतु आंदोलन ठंडा पड़ा।

इसी तरह का एक विवाद जनता पार्टी के शासन में १९७७-७८ में हुआ। १९७७ में राम शरण शर्मा की किताब आई 'एंशिपंट इंडिया'। इस में कृष्ण और महाभारत युद्ध के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाया गया था। शर्मा जी ने लिखा कि महाभारत में कृष्ण की भूमिका निश्चय ही सबसे महत्वपूर्ण है लेकिन २०० ईसा पूर्व से ३०० ई. के बीच मथुरा में मिले साक्ष्य कृष्ण के वास्तविक अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं देते। शर्मा जी की इस स्थापना पर बावेला मचा और पुस्तक प्रकाशन के एक साल बाद १९७८ में जनता पार्टी की सरकार ने पुस्तक पर पाबंदी लगा दी थी। राम शरण शर्मा के इस सुझाव पर भी हंगामा मचा था कि १२ वीं कक्षा के पाठ्यक्रम में अयोध्या विवाद और २००२ के गुजरात दंगे पर पाठ रखा जाना चाहिए ताकि छात्र शुरू से ही सचेत रहें कि ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति कभी न हो।

समकालीन समय के विवादास्पद मुद्दों पर सीधा हस्तक्षेप करनेवाले राम शरण शर्मा का मूल कार्य प्राचीन भारत और पूर्व मध्य काल से जुड़ा है। डी.डी. शाम्बी की अनेक स्थापनाओं को बदल कर राम शरण शर्मा ने प्राचीन भारतीय समाज और उसके विकास का वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत किया। उन्होंने ईसा पूर्व १५०० ई. से ५०० ई. तक के भारतीय समाज के विकास की ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से व्याख्या की। इससे अनेक ऐसे तथ्य सामने आए जिनसे भारतीय संस्कृति और समाज का नया मानवीय रूप सामने आया।

अपनी जिन पुस्तकों में राम शरण शर्मा ने भारतीय समाज के इतिहास को रेखांकित किया है उनमें प्रमुख हैं : (अंग्रेजी से हिंदी में अनूदित प्रमुख पुस्तकें) - भारतीय

सामंतवाद, प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, भारत के प्राचीन नगरों का पतन, पूर्व मध्य युगीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति तथा प्रारंभिक भारत का परिचय। इसके अलावा लगभग ५० वर्ष पूर्व उन्होंने दो भागों में एक पुस्तक हिंदी में लिखी थी 'विश्व इतिहास की भूमिका।' वह भी काफी चर्चित हुई थी।

राम शरण शर्मा से मेरी मुलाकात एक विशेष संदर्भ में हुई। संभवतः १९८७ या ८८ में। मैं जनसत्ता दैनिक के संपादकीय विभाग में था। उन दिनों मैं साप्ताहिक साक्षात्कार का एक कॉलम लिखा करता था। इस कॉलम के लिए मैंने डॉ. रामविलास शर्मा का लंबा साक्षात्कार लिया था। इस साक्षात्कार में उन्होंने विस्तार से बताया था कि आर्यों के बाहर से भारत आने की अवधारणा गलत है। आर्य भारत के मूल निवासी थे। राम शरण शर्मा उन दिनों दिल्ली में थे। उन्होंने उसे पढ़ा तो मुझे मिलने के लिए संदेश भेजा। मैं उनसे मिलने के लिए पटपड़ गंज की पूर्वांचल सोसायटी में गया जहाँ वे रहते थे। उन्होंने कहा कि आर्यों के बारे में राम विलास जी की राय पर उन्हें टिप्पणी करनी है। मैंने उनका लंबा इंटरव्यू लिया जो 'जनसत्ता' में छपा। इसमें उन्होंने राम विलास जी के इस विचार का विस्तार से खंडन किया था कि आर्य भारत के मूल निवासी थे...। लेकिन यह सिलसिला यही खत्म नहीं हुआ। रामविलास जी ने राम शरण जी के तर्कों का जनसत्ता में फिर नए तथ्यों के आधार पर खंडन किया। मैंने राम शरण जी को फोन किया तो बोले, मैंने राम विलास जी के नए तर्क पढ़ लिए हैं। अभी पटना जा रहा हूँ। लौटकर आता हूँ तो 'आर्यों के मूल निवास' पर अखबार की ओर से एक संगोष्ठी रखो जिसमें मैं, राम विलास जी भी हों और फिर मैं उनके तर्कों का रू-ब-रू उत्तर दूंगा। लेकिन ऐसा संयोग संभव नहीं हो सका। राम शरण जी से मिलकर मुझे लगा कि उन में हृद दर्जे की जागरूकता थी। अपने विषय से संबंधित एक-एक गतिविधि से वे वाकिफ रहते थे।

अपने कृतित्व से शिखर तक पहुंचे राम शरण शर्मा ने गांव से अपनी जिंदगी शुरू की। बिहार में बेगूसराय जिले के एक छोटे से गांव में वे २६ नवंबर १९१९ में पैदा हुए। अत्यंत साधारण परिवार था। बहुत मुश्किल से इनके पिता मैट्रिक तक की इनकी पढ़ाई का खर्च वहन कर सके। उसके बाद एम.ए. तक की पढ़ाई उन्होंने ट्यूशन और स्कॉलरशिप के आधार पर की।

अपने युवा दिनों में ही वे पंडित कार्यानंद शर्मा, स्वामी सहजानंद सरस्वती तथा राहुल सांकृत्यायन जैसे व्यक्तित्वों के संपर्क में आए जो समाज परिवर्तन के लिए सक्रिय थे। राम शरण शर्मा पर इन तीनों व्यक्तित्वों का गहरा असर पड़ा और वे वामपंथी विचारधारा से जुड़ गए। वे डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा के संपर्क में भी आए और साम्राज्यवाद और सम्प्रदाय के विरोध को अपनी जिंदगी की मुख्य गतिविधियों में शामिल कर लिया।

पटना विश्वविद्यालय के पटना कॉलेज में वे १९४६ में आए। इससे पहले उन्होंने आरा (१९४३) और भागलपुर (४४-४६) के कॉलेजों में पढ़ाया। १९५६ से ७३ तक वे

पटना विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के अध्यक्ष रहे। दिल्ली विश्वविद्यालय में १९७३-७८ तक शिक्षण कार्य किया। इंडियन कौंसिल ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च के वे संस्थापक अध्यक्ष (१९७२-७७) थे। टोरंटो विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर के बतौर काम किया। १९७५ में भारतीय इतिहास कांग्रेस के अध्यक्ष बने। १९८६ में उन्हें जवाहर लाल नेहरू एवार्ड मिला।

राम शरण शर्मा के अवदान पर डी.एन झा ने एक पुस्तक का संपादन किया है जो शर्मा जी के योगदान को विस्तार से रेखांकित करती है। पुस्तक का नाम है : 'सोसायटी एंड आइडियोलॉजी इन इंडिया : एसेज इन ऑनर ऑफ प्रोफेसर आर. एस. शर्मा' (१९६६)। के पी जायसवाल इंस्टीट्यूट ने भी उनके सम्मान में एक पुस्तक (१९६५) छपी है।

पहली बार किसान को केन्द्र में रख कर भारतीय समाज के विकास को रेखांकित करनेवाले राम शरण शर्मा स्वयं भी किसान परिवार से ही आते थे। उनके व्यक्तित्व में भी भारतीय किसान की सहजता थी। लेकिन किसान की दृढ़ता और संघर्ष करने का आत्मबल भी उनके स्वभाव का अंग था। वे बेहद सरल थे। उनसे साक्षात्कार के लिए जब मैं उनके घर गया तो वे अकेले थे। खुद ही पानी ले कर आए और चाय बनाकर पिलाई। चाय पीते हुए शर्मा जी ने विस्तार से बताया था कि प्राचीन भारत में भी गर्म पेय की परंपरा थी। लोग अपनी-अपनी जरूरत के अनुसार अनेक प्रकार की वनस्पतियों को उबाल कर पीते थे...

इंटरव्यू लेने के बाद जब चलने लगा तो शर्मा जी ने कहा था : मैं भी कभी अखबार में काम करना चाहता था....।

मैंने पूछा था : क्यों ?

शर्मा जी ने कहा था : इसलिए कि वहां हर पल बदलते इतिहास को महसूस कर कर के तुरंत दर्ज करने का मौका मिलता है..... वह एक रोमांचक अनुभव है।...

अपने दोस्तों के बीच ईश्वर : पाँच कविताएँ

पवन करण

9

तुमसे नहीं, तो मैं अपने मन की किससे कहूँ
किन्हीं सुनाऊं अपना रोना, क्या उन्हें जो मुझे
बस पूजना जानते हैं, पहचानना नहीं

पता नहीं मुझे रोता देख वे क्या समझ बैठें
शुरू कर दें अपने ही जैसों का कल्लेआम,
और कहें, कैसे ईश्वर हो,
ईश्वर की भी कोई व्यथा होती है

व्यथा हमारी होती है तुम्हारा काम
व्यथा सुनना है, सुनाना नहीं
ईश्वर हो तो ईश्वर की तरह रहो
हम तुमसे इतनी उम्मीद लगाये बैठे हैं
तुम हो कि हमारी तरह हुए जा रहे हो

इधर मुझे तुमने भी अपने बीच बिठाना
बंद कर दिया, दोस्त की शक्ल में
मेरी शक्ल भूल ही गये तुम
तुम भूल गये हमारे बीच हमेशा
एक ग्लास मेरा भी भरा जाता था

ये भी कि मैं धीरे-धीरे सबसे ज्यादा
चिखना चर जाता था, मुझसे बचाने
जिसे रख लेते थे तुम उठाकर, जो तुम्हें
कई बार पड़ता था दोबारा मंगाना

तुम्हें लगता होगा, मैं ईश्वर हूँ मुझे क्या कमी
मगर ईश्वर होकर भी मेरी हालत
उतनी ही खराब है जितनी तब,
जब मेरा खर्च उठाया करते थे सब
खर्च उठाने में अपना, मैं आज भी सक्षम नहीं,

तुम सोचते होगे, या तो मैं तुम्हें
भूल गया, या तुमसे मिलता नहीं
मगर ऐसा नहीं कतई, ईश्वर होकर
मैं तो अपना चेहरा ही भूल गया
आँख बचाकर तुम सबके बीच आया हूँ
तो खुद को याद आ रहा हूँ कुछ-कुछ

इस बीच तुमने भी नहीं पूछा आकर,
कैसा हूँ मैं ईश्वर होकर तुमने सोचा,
अब मुझे क्या ज़रूरत तुम्हारी? मगर
ईश्वर होना दोस्त होने से बेहतर नहीं
कोई ईश्वर, दोस्त से बड़ा नहीं हो सकता
ईश्वर किसी का दोस्त भी नहीं हुआ कभी,

ईश्वर के लिये किसी को याद रख पाना
संभव नहीं अब, भीड़ इतनी है उसके पास
बड़े से बड़ा ईश्वर भी नहीं पहचान सकता
उसका दुश्मन कौन है और दोस्त कौन
उसे अब सब चेहरे एक से नजर आते हैं,

आज तो हुआ यह मैं रहता हूँ जहाँ
उसके पीछे मुझे कुछ आहट दी सुनाई
मैंने देखा तो मुझे अपने ही जैसे

कुछ दोस्त दिखे पैग बनाते, मस्ताते
और एक दूसरे को गालियां सुनाते

तुम तक मुझे उन्हीं ने पहुंचाया, वे हमें
अच्छी तरह थे पहचानते, हो सकता है
उनके साथ बैठकर पी हो हमने कभी
उन्होंने यह भी बताया उनका एक दोस्त
और भी था, जो अब ईश्वर हो गया है,
लेकिन वह उनके लिये कुछ करता नहीं
इतना भी नहीं, वह उनके लिये दारू की
कुछ बोतलें ही भिजवा दिया करे
उसके लिये कौन सी बड़ी बात है, ईश्वर है
मैं समझ गया वे मेरी बात कर रहे थे

२

चलो यार, अब मुझे ऐसे गुस्से में मत देखो
मेरा पैग बनाओ, फिर मुझे मारो-पीटो
जो चाहे करो तुम्हारी मर्जी, ईश्वर के लिये
दोस्तों के हाथों पिटने से अच्छा कुछ
हो नहीं सकता, पुजते-पुजते थक गया हूँ

अरे अब तुम्हारे बीच आया हूँ तो क्या
ईश्वर की तरह आउंगा, दोस्त हूँ
और फिर मेरा ईश्वर की तरह
आने का फायदा क्या
जब मेरे हाथ में तो कुछ नहीं, वहां से,
जहाँ रहने लगा हूँ मैं मुझे कुछ भी लाने की
इजाजत नहीं, वह जो वहां है सब वहीं
रहता है, हिलता-डुलता नहीं, मैं भी

मैं इधर-उधर होउंगा तो मुझे और मजबूती से
गाड़ दिया जायेगा जमीन में, सिर पर तान
दिया जायेगा मेरे और भी बड़ा छत्तर
हाथों में थमा दिये जायेंगे और भी

बड़े-बड़े हथियार, सब बेकार
यह भी हो सकता है मेरे वहां से
कुछ ले आने की सजा भुगते कोई और
और मैं किसी से कह भी न पाऊं
कि यह तो किया धरा मेरा, कोई मानेगा भी नहीं
मैं वहां से ले जा सकता कुछ कहीं और

पत्थर में रहते-रहते मैं भी पत्थर हो गया हूँ
पत्थर की आँख, पत्थर के कान
पत्थर की जीभ और पत्थर के हाथ
पत्थर का ईश्वर या तुम मुझे ईश्वर एक पत्थर
या बस पत्थर कह सकते हो
पत्थर कहा भी जाता रहा हूँ

मैं हँसता हूँ भीड़ ने मुझे लेकर कैसे-कैसे
भ्रम पाल रखे हैं, मैं सब कर सकता हूँ
मैं ही सब करता हूँ, संसार में जो कुछ भी
चल रहा है उस में मेरा ही हाथ है

सुख-दुख के पीछे मैं ही हूँ, मैं देने पर
उतर आऊं तो किसी की दुनियां बदल दूँ,
तुम देखो, ईश्वर होने के बाद भी तुमको
एक बोटल दारु तो पिला नहीं सकता
दुनिया की किस्मत क्या खाक बदलूंगा

अच्छा, मैं तुमसे झूठ बोल रहा हूँ, चलो
सब मिलकर तलाशी लो और मेरी जेब से
एक पैसा तो निकालकर दिखाओ
ऐसा भी नहीं कि मैं यहां आने से पहले
सब कुछ वहां रख आया होऊँ

वहां सब मेरे नाम पर जरूर है, मगर
मेरे लिये कुछ भी नहीं, वहां न मेरी
अलमारी जिसमें लगा देता होऊँ ताला

न हीं किसी बैंक में मेरे दस्तखत से
चलने वाला कोई खाता, ऐसा मैं ईश्वर

झूठ बोलते हैं जो यह कहते हैं ईश्वर
सबसे शक्तिशाली है, सबसे धनवान है
सबसे दयालु है, सबसे बड़ा दाता है
मेरे शक्तिवान होने की पोल तो यह है-
हवा से मेरी धोती की गांठ खुल जाये
तो मैं खुद नहीं बांध सकता उसे भी

धनवान होना तो मेरा तुम देख ही रहे हो
बिना शक्ति और धन के काहे की दया
और काहे का दान, सच कहूँ तो किसी
ईश्वर के पास यह दोनों नहीं,
सब के सब मेरे जैसे हैं, फटीचर

किस्मत वाले हो तुम तीनों जो मेरी तरह
ईश्वर नहीं हुए, मेरी जगह तुम में से कोई
ईश्वर हो गया होता, मेरी तरह रो रहा होता
ईश्वर होने से बुरा कुछ हो नहीं सकता
ईश्वर होने से बड़ा कोई अपराध नहीं

३

तुम तीनों आज कम पीना या और मंगाना
मेरे लिये, बहुत दिनों से पी नहीं मैंने
आज मैं छककर पिउंगा, लुढ़कने तक
तुम्हें क्या लगता है वे जो कहते हैं
उनके पास जो भी है सब मेरा दिया हुआ है
वे सच कहते हैं, नहीं, वे झूठ बोलते हैं
मैंने उन्हें कुछ नहीं दिया, किसी ईश्वर के पास
कुछ है ही नहीं, तो वो देगा कहां से

जिसे वे मेरा दिया कहते हैं, वो सब
तो उन्होंने तुमसे छीना है, तुम्हारी जिंदगी से

जिंदगी उन्होंने ही चुरायी है,
जब मैंने ही उन्हें दिया है तो उसमें
उनकी क्या गलती, अब तुम भी मांगों
बैठे रहो हाथ जोड़े, मिलना कुछ नहीं,
मैं खुद तुम्हारे आगे हाथ पसारे बैठा हूँ

घंटों वे भले ही बैठे रहते हों मेरे आगे,
मुझे दिखाई दे तब न, बजाते रहें घंटियां
मुझे कुछ सुनाई तो देता नहीं,
जब सांसे ही नहीं चलती मेरी, कैसी भी
बलियाँ जला लें, पहना लें मुझे कैसे भी
फूलों की माला क्या फर्क पड़ता है मुझे
अब छप्पन भोग, मैं पत्थर क्या खाऊंगा,

जिसे उन्होंने छीना है तुमसे, जिसे वो
मेरा दिया बताते हैं, उसका बहुत हिस्सा
उन्होंने मढ़ दिया है मेरे भी सिर
अब मैं हिल डुल तो सकता नहीं
उन्हें मना क्या खाकर करूँगा, उन्होंने
बेईमानी में अपनी मिला लिया है मुझे भी
जब से हूँ, मैं उन्हीं के कब्जे मैं हूँ
उन्हीं का ईश्वर हूँ, किसी काम का
न होते हुए भी उनके बड़े काम का हूँ

जो उन्होंने छीन लिया है तुमसे, सोचता हूँ
उसे तुम वापस क्यों नहीं लेते उनसे
अपनी जिंदगियां वापस लेने के लिये
लड़ते क्यों नहीं उनसे, न देने पर जब तक
वे मर नहीं जाते मारते क्यों नहीं उन्हें,
मारते हुए उन्हें मरते क्यों नहीं लड़कर
मुझे उखाड़कर दे क्यों नहीं मारते उनके सिर पर
ईश्वर होने से तो रहा कम से कम
अब मेरा पत्थर होना तो सार्थक हो जाये

दुख तो यह है इसके लिये तुम सब भी
मेरे भरोसे बैठे हो जबकि नहीं कर सकता
मैं कुछ भी, मैं अपनी नाक पर बैठी मक्खी
तो उड़ा नहीं पाता, उन्हें दण्ड क्या दूंगा
अरे मैं किसी लायक ही होता
तो खुद को उनका बंधक होने देता
उन्हें अपने नाम पर खाने-कमाने देता
गर्दन पकड़कर नहीं मोड़ देता सबकी

हां, हां मैं ठीक कह रहा हूँ, अपने ग्लास
जल्दी खाली करो, या मेरा ग्लास भरो,
आज मुझे उसी ढाबे पर रोटी खिलाने
ले चलना जहाँ एक बार लड़ते हुए हमें
पुलिस ने पकड़ लिया था, फिर देर रात
गिड़गिड़ाने और जेबें खाली कराने के बाद
छोड़ा हमें, मुझ में तो उन्होंने दो-चार
बैंत भी जमा दिये, कारण एक तो अपुन
उस रोज भी नंगे थे और ऊपर से उनसे
जुबान लड़ाये चले जा रहे थे, सो अलग

लड़ना तो तुम्हें ही होगी अपनी लड़ाई,
तुम उसे उनके साथ-साथ मुझे भी
चुनौती देते हुए लड़ो, लड़ो और तोड़ दो
यह भ्रम करने वाला भी मैं हूँ ही,
रचने वाला भी मैं ही हूँ
देने वाला भी मैं ही हूँ, यह कि
मेरी मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता,
और पत्ते, अपनी मर्जी से कहां-कहां
हिलते-डुलते और उड़ते फिरते हैं

४

अच्छा ये बताओ तुम्हारे अलावा ये बात
किस-किस को पता है कि मैं दलित हूँ
और अब ईश्वर हो गया हूँ,

क्या मेरी उसे पता है जिसे पाने के लिये
मैंने कितने पापड़ नहीं बेले, अंत में
इसी वजह से उसे गंवाना पड़ा मुझे,

शुरू-शुरू में जब मैं ईश्वर हुआ नया
वह एक दो बार आई भी मुझे पूजने
तब तक तो ठीक से ईश्वर में चेहरा
तब्दील भी नहीं हुआ था मेरा, मैंने चाहा
कम-से-कम एक बार तो मुझे देख ले
उसने आंख उठाकर देखा तक नहीं
सिर झुकाये हाथ जोड़े खड़ी रही
सिर झुकाये ही चली गई वापस

पता नहीं क्या मांग रही थी वह मुझसे
ईश्वर को कुछ सुनाई तो देता नहीं
मेरे हाथ में कुछ होता
तो सब उसकी इच्छा पूरी करने में
लगा देता, उसके लिये मेरी हालत
तुमसे ज्यादा किसे पता होगी,
आंसू बहाते हुए जब मैं कहता निर्धन सही
सवर्ण होता, उसे पा तो लेता, तुम कहते
जात-पात तो ईश्वर की मर्जी है

ईश्वर होकर मैंने देखा, जात-पात
किसी ईश्वर की मर्जी नहीं,
किसी ईश्वर ने नहीं कहा
जात-पात अच्छी चीज है, ईश्वर तो
जात-पात के बारे में जानते तक नहीं
जब मैं नया-नया ईश्वर होकर पहुंचा
मुझसे किसी ने पूछा तक नहीं
मैं किस जात का हूँ, या तुम्हें किस ने
ईश्वर बना दिया, दलित भी कहीं
ईश्वर होता है, चला छुओ मत हमें

तुम तीनों तो दारू पीना ही भूल गये
और मैं हूँ कि गटागत पिये जा रहा हूँ
लगता है तुम्हारे हिस्से की भी आज मैं ही
पी जाऊंगा, लाओ सिगरेट का कश लगवाओ,
नहीं नहीं ऐसा करो नई सिगरेट दो मुझे
आज अकेले मैं पूरी सिगरेट पिऊंगा

दोस्त होकर तुमने मुझसे जात-पात
नहीं की तो क्या तुम्हारे घर के लोगों ने
मुझसे भेदभाव करने का कोई मौका
नहीं छोड़ा तुम्हारे लड़ने के बाद भी,
वे चाहते थे जब मैं तुम्हारे घर आऊँ
नहीं मांगूँ उनसे पीने के लिये पानी

कभी खाने की नौबत आ गई तो
उन्होंने ये जताने का मौका नहीं चूका
मैं उनके यहां, साथ बैठकर खा रहा हूँ
उनकी कोशिश रही, हो सके तो मैं
अपनी झूठी थाली रखूँ धोकर,

उन्हें मेरा ईश्वर होना पता चले आज भी
वे मुझसे मेरे पिता के नाम से
फलां का लड़का कहकर न पुकारें
फलां जात का ईश्वर कहकर बुलायें
जैसे कोई बाप ही न हो मेरा
मेरी छोटी जाति ही हो मेरा बाप

अपने नाम पर जात-पात देखकर,
मेरी रीढ़ में भी होने लगता है कंपन
ईश्वर हुआ तो कम से कम मेरे अंदर
चमत्कार करने की इतनी क्षमता तो
चाहिये थी होनी, पलक झपकते ही
खत्म कर देता इसे, किसी ईश्वर ने
बिना ताकत इसे मिटाने की कोशिश

की तो ईश्वर का मिटना तय है,
जात-पात उसे ही मिटा डालेगी

५

क्या-क्या नहीं हो रहा मेरे नाम पर
सब झूठ बोल रहे हैं कोई नहीं कहता
जाओ भाइयो अपना काम देखो जाकर
सब तुम्हें बेवकूफ बना रहे हैं
तुम्हें देने के लिये ईश्वर के पास,
कुछ भी नहीं, हमारे पास भी नहीं

कोई नहीं कहता सब बराबर हैं
मानने वालों की संख्या कम होने से
कोई पहचान छोटी नहीं हो जाती, फिर
ईश्वर की ज़रूरत क्या है, ईश्वर के बिना
रहा नहीं जाता तुमसे जैसे
मां ने नहीं, ईश्वर ने पैदा किया हो

किस कदर पैसा आता है मेरे नाम
सब का सब चोरी से कमाया,
तुम सबका गला काटकर बनाया
कोई नहीं पूछता मेरे नाम पर जो
हुंडिया चढ़ा रहे हैं लोग वो उन्होंने
कैसे कमाई है, काली कमाई न चढ़े
तो जिन जगहों में मैं रहता हूँ वहां
बिजली का बिल भी न भर पाये

चढ़ रही है मुझे, ज्यादा बोल रहा हूँ
लुढ़क जाऊं तो मुझे जहाँ से आया हूँ
वहीं छोड़ आना, ईश्वर होने के बाद
अब मैं किसी काम का नहीं, नहीं गया
तो मुझे यहां-वहां ढोते फिरोगे

अब मैं ईश्वर होने से पहले जो था
वह नहीं हो सकता, कुछ ईश्वरों ने
कोशिश की भी वापस दुनिया में
लौटने की तो नहीं हो सके सफल,
एक बार ईश्वर हो गये तो हो गये
अब जिंदगी भर ईश्वर होकर जियो
ईश्वर होकर मर तो सकते नहीं

इन बेवकूफों को क्या हुआ चांद पर
राकेट भेजते हैं और उसकी प्रतिकृति
मेरे चरणों में चढ़ाने चले आते हैं
उनके काम से मेरा कुछ लेना नहीं
तब भी इसका श्रेय मेरी झोली में

एक यही तो रहा जो लगातार मुझे
चुनौती देता हुआ बढ़ता रहा आगे
ये महाशय उसे भी मेरे कदमों में
डालने पर उतारू हैं, जैसे यान में
हर बार पलीता मैं ही लगाता होऊं

मुझे चुनौती देना पसंद है, जो मुझ
निष्क्रिय को चुनौती देता है, वह
आगे बढ़ता है, काश कि मैं खुद को
चुनौती दे पाता, इस ईश्वर होने से
अपना पीछा छुड़ाकर भाग पाता

मर्जी तो यह है मेरी सब खूब काम करें
जमकर दारू पियें, दाल-रोटी खायें,
मिलजुल कर रहें, मेरी जगह किताबों को
समय दें, मुझे जरा भी घास न डालें न ही
अपना करा-धरा मेरे नाम पर न थोपें,

मुझे दिनों से पीने को मिली नहीं,
तो ज्यादा पी ली है मैंने मगर यह सच है कि

मेरा ईश्वर होना किसी काम का नहीं
यह मुझसे बेहतर कौन जानता होगा

मेहनत से कमाने-खाने वाले दोस्तो
खुद पर भरोसा करने वाले साथियो
मुझे कतई भाव न देने वाले मनुष्यो
मैं सच कह रहा हूँ मुझ पर यकीन करो।

कविता

अर्पण कुमार की कविताएं अर्पण कुमार

परदे से झाँकता डर

एकदम से
नहीं खिल उठता कोई फूल
संगीत का आलाप भी
क्रमशः उठान लेता
पहुँचता है शिखर तक
नशा
सौंदर्य, गंध और नाद
जिसका हो
सर चढ़कर बोलता है
मगर हौले-हौले,
सूखा पहले तो
अधगीला ही होता है न!
और फिर भीगता है
कण-कण
सराबोर
पानी की बौछारों को
समाकर अपनी सूखी चादर में
खेत पहुँचाते हैं
मिट्टी की सोंधी महक
हमारे नासिका-पुटों तक

मगर इसमें भी
कुछ देर का इंतज़ार तो
लाजिमी ही है न!
इंसान हो या धरती
बारिश भी
एक झटके में सराबोर नहीं करती
किसी को
पानी को चीरना
हवा में तैरना
और पहाड़ को
लॉघना भी हमें आया
तो सदियों की
मानवीय उर्वरता का उद्विकास
उसके पीछे है
और उसमें
निरंतर बेहतरी की गुंजाइश
बची है आज भी

नफ़रत प्रेम में
और प्रेम नफ़रत में
बदलता चला जाए
कब किस तरह
इसका अंदाज़ा भी
अक्सरहाँ देर से ही होता है

ये जगजाहिर दृष्टांत हैं
और अपने बचाव में
मैं इनका कोई आलंबन नहीं ले रहा
हाँ हवाला दे इनका
मैं अपने आस-पास
किसी एक बाजू
थोड़ी जगह
कोरी रखना चाहता हूँ
अछूती और अनजान

अगर मैं
अपने साए से भी
यह उम्मीद करता हूँ
कि वह हरदम
मेरा हमकदम बनकर न चले
तो ऐसा नहीं कि
मैं झूठा या अविश्वसनीय हो उठा
हाँ, गोपनता को
मैं थोड़ी पसंद करता हूँ
या यूँ कहें कि
मैं किसी के सामने
धीरे-धीरे खुलना चाहता हूँ
और संभव है कि
ऐसा करते हुए
कहीं मेरे 'अंदर का कायर' भी
कदाचित् एक संरक्षण
महसूस करता हो
बेशक उसका सुरक्षा-बोध
उस कछुए का ही
क्यों न हो
जो अपने ही खोल में छुपकर
स्वयं को निरापद समझने के
एक भोले भ्रम में
जीता हो

कई चीजों में
कई लोगों के सामने
संभव है
मैं एकदम से
नहीं खुलता
नहीं खुलना चाहता,
मुझे अच्छा लगता है
अपने दाँएँ और बाँएँ हाथ
के बीच

अपनी गर्दन घुसा लेना
यूँ झुकी गर्दन को
मेरी परदादारी समझें
या मेरा डर-
यह आपके ऊपर है।

नदी...

न मिले नदी का समर्पण
मगर मिल जाए
नदी का साहचर्य
काफी है इतना
मेरे पथिक को

ज़रूरी नहीं कि
नदी मुझे बहाए
अपने संग,
मैं फकत यह चाहता हूँ
कि वह अपने निविड़ एकांत में
सुनसान पथों पर
सिर्फ मुझे सोचे
और बहती हुई अपनी गति से
थम जाए उतनी देर
मेरी याद में,
अपने चरम उफ़ान में
और अपनी प्रकृति से परे

नदी में घुस पड़ना
यूँ ही बेमतलब
समय-कुसमय
निरे अयाचित, अमर्यादित ढंग से
नहीं है कोई हासिल
मेरी राय में
किसी पुरुष का
बेहतर है

बूँद-बूँद जी सकूं मैं नदी का
अपनी प्रवहमान आत्म-चेतना में
उसकी जल-राशि को
अपने तई गंदला किए बगैर
उसके तटों पर चहलकदमी करता
शांत और निरावेग मन से
और एक जीती-जागती नदी
उतर आए मेरे अंदर
अपनी समस्त ऊर्जा और
क्षिप्रता के साथ
पूरे हक से
अपनी शुचिता और गरिमा को
खंडित किए बगैर
कहीं किसी कोण से भी;
आखिर यह भी तो
उपलब्धि ही है
प्रेम की
कदाचित् कुछ अधिक तरल
सुवासित और कल्पित
अपनी अतृप्त हूक में भी

नहीं चाहिए मुझे
नदी का प्रकट, इकहरा और
बेमानी समर्पण
हाँ अगर किसी भाँति योग्य
ठहरता हूँ और नदी उचित समझे
तो मिल जाए मुझे
उसकी गोपन, इंद्रधनुषी और
उत्सुक परिव्याप्ति ही

बेशक
नदी मेरी ओर न बहे
मगर रहे
मेरे आस-पास

काफी है यह भी
मेरी चिर और मानिनी
तृष्णा के निमित्त।

माएं एस आर हरनोट

एक मां ने अपने मरे हुए बच्चे को तब तक अपने हाथ में उठाए रखा जब तक उसका शेष कुछ भी उसके पास नहीं बचा था।

दूसरी मां ने कई बच्चे जने लेकिन वह उन्हें न रहने को मकान दे सकी और न पेट भर रोटी।

तीसरी मां ने जब बच्चा जना तो वह इतनी परेशान हो गई कि उसे पैदा होते ही कचरे के ढेर में फेंक दिया।

चौथी मां ने अपने बच्चों को इतनी ज़बरदस्त परवरिश दी कि अपने बुढ़ापे में उसे वृद्धाश्रम जाना पड़ा।

पांचवीं मां के इतने बच्चे थे कि उनका कोई हिसाब नहीं था।

●

पहली मां एक बंदरिया थी। वह अपने बच्चे को हमेशा अपनी छाती से चिपटाए रखती थी। वह दिन भर पेट भरने जगह-जगह भटकती रहती। छीना-छपटी करती। एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर उछलती-कूदती। वह कभी थकती नहीं थी। बच्चा सुरक्षित उसकी छाती में चिपटा रहता।

बच्चा जब अपने पांव पर चलने लगा तो भी वह कभी उसे अपने से अलग नहीं करती। उसकी छाती से बच्चा तभी अलग होता जब वह थकी-हारी कहीं बैठती। सुस्ताती और गुनगुनी धूप में कुछ पल के लिए उसकी आंख लग जाती। बच्चा खेलता-कूदता इधर-उधर चला जाता। पर जैसे वह सोई हुई भी चौकस होती। तत्काल उठ कर उसे ढूंढ़ती। चिढ़ती-चीखती। एक-दो थप्पड़ मारती और खींच कर उसे छाती से सटा लेती। उसकी उस चीख में एक अजीब खीज होती। दर्द होता। बच्चे को कुछ सीख होती। मां के इस अप्रत्याशित गुस्से से बच्चा सहम जाता और अपनी छोटी-छोटी आंखें बंद करके अपनी

मां के बालों को अपने नन्हें पंजों से पकड़ कर चुपचाप छाती के नीचे दुबका रहता।

एक दिन अचानक बंदरिया के एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदते हुए बच्चा बिजली की तार की चपेट में आ गया और झटके से नीचे गिर पड़ा। करंट लगने की वजह से वह पल भर में अपनी सांसे खो बैठा। बंदरिया के दुःख का पारावार न रहा। वह जोर-जोर से चीखने लगी। उसकी इस चीख में अथाह दर्द था। वेदनाएं थीं। नन्हें को खोने का दर्द था। उसकी दर्द भरी चीखें सुन कर बंदरों की पूरी टोली वहां इकट्ठी हो गई थी। कई घण्टों तक उन्होंने लोगों को उस रास्ते से चलने नहीं दिया था। उन्हें जो भी आदमी दिखता उसी पर टूट पड़ते। लोग बंदरों के इस दृश्य को देखकर दंग थे कि किस तरह बंदरिया के उस दुख की घड़ी में सभी आपस की दुश्मनियां भुलाकर वहां इकट्ठे राहगीरों पर झपट रहे थे। बंदरिया बेचारी उस मरे हुए बच्चे को अपनी छाती से चिपकाए काफी देर वहीं बैठती चीखती रही थी।

धीरे-धीरे बंदरों का आक्रोश ठंडा हुआ। वे इधर-उधर निकल पड़े। वह बंदरिया भी कहीं चली गई। उस दिन के बाद बंदरिया उस बच्चे को लेकर घूमती रहती। उसे एक पल के लिए भी अपने हाथ से नहीं छोड़ती। अब वह दो पैरों और एक हाथ से चलती। जब कभी थक जाती तो टीन की छतों पर बैठ कर पल भर आराम तो करती पर उस मरे हुए बच्चे को अपनी छाती के साथ सटाए रखती। उठती तो फिर उसे एक हाथ में पकड़ कर चलती।

जैसे-जैसे दिन बीतते रहे उसका वह बच्चा उसी के हाथ में सड़ता-गलता रहा। एक-एक करके उसके सारे अंग निकल गए। आखीर में महज उसकी चमड़ी का एक लोथड़ा उसके पास बचा रह गया था। वह उसे भी उसी तरह उठाए रखती जैसे पूरे बच्चे को लेकर चलती रहती थी। उस मां का एहसास उस लोथड़े के साथ अभी तक भी ज़िंदा था कि उसका बच्चा उसके साथ है। वह अकेली नहीं है। उसकी जान का टुकड़ा उसके साथ है। अन्त में जब वह तिल भर चमड़ी का लोथड़ा सिकुड़ कर खत्म हो गया तो बंदरिया के हाथ खाली हो गए। वह एहसास भी जाता रहा जो उसने न जाने कितने दिनों से अपने हाथ में टुकड़ों-टुकड़ों में संजोए रखा था।

अब उसका हाथ ही खाली नहीं था जैसे जीवन ही खाली-खाली हो गया हो। कोई उसकी आंखों में झांक कर देखता तो जानता कि उस बच्चे के खोने का कितना दर्द उन छोटी-छोटी आंखों में भरा रहता। वे भयावह दर्द से सनी दिखतीं। उनकी गहराईयों में घोर अंधकार भरा रहता। उसका दिल बच्चे की यादों में तिल-तिल जलता रहता। जब यह सब कुछ असहनीय हो जाता तो वह फिर किसी देवदार के पेड़ की टहनी या लाल-हरे टीन की छत के किनारे बैठी जोर-जोर से चीखने लगती। ये चीखें पूरे वातावरण में भर जातीं। उसके साथ बंदर भी उसका साथ देते। वे जहां होते चीखने-चिल्लाने लगते। यहां तक कि आवारा कुत्तों के झुंड भी उस दर्द से अछूते नहीं रहते। कोई भौंकने लगता तो कोई आसमान की ओर मुंह करके जोर-जोर से लम्बी हूंकार लगाता। कौवे भी पीछे नहीं रहते।

वे कां-कां करते हुए बंदरिया के आसपास बैठ जाते और उसे जैसे सांत्वना देते लगते। छज्जों की मुंडेर पर बैठे कबूतरों का दिल भी पसीज जाता और वे भी देर तक गुटर-गुटर करते रहते।

●

दूसरी मां एक भिखारिन थी। जब वह पैदा हुई होगी तो उसकी मां ने भी अपनी तरह उसके हाथ में भीख मांगने के लिए कटोरा थमा दिया होगा। जवानी की दहलीज में पहुंचने तक लोग उसे बच्ची समझ कर भीख देते होंगे। कभी वह भूखी-प्यासी किसी पैराफिट की ओट में या फुटपाथ या फिर किसी सड़क के नीचे बने खोले में सोयी रहती होगी। जब उसकी छोटी-छोटी छातियां फटे कुरते के बीच से बाहर झांकने लगी होंगी तो कईयों की नजरें वहां टिकी रहती होंगी।

अब लोग भीख में उसे बड़े नोट थमाने लगे थे क्योंकि वह जवान होने लगी थी। उनमें कुछ उससे बातें भी करतें और उसके रहने की जगह भी पूछ लेते। कई उसके रात के रहने के ठिकाने की दिन में ही टोह ले लिया करते। कुछ दिनों बाद छातियों के साथ-साथ उसका पेट भी बढ़ने लगा। पहले साल उसकी गोद में एक बच्ची दिखी। वह जहां सड़क के किनारे भीख मांगने बैठी रहती वह एक फटी चादर पर उस बच्ची को भी सुलाए-बिछाए रहती। उसके सामने भी एक कटोरा रखा होता।

दूसरे साल उसकी गोद में एक और बच्चा था। तीसरे साल फिर एक और। इसी तरह उसने सड़क के किनारे और पैराफिटों के बीच कई बच्चे जने और वे भी उसकी तरह भीख मांग कर गुजारा करते रहे। लड़के बड़े होकर मोटा हाथ मारने लगे और लड़कियों ने वही कुछ किया जो मां करती रही। वह मां खुश थी कि उसके बच्चे अपने पांव पर खड़े हो गए हैं और दिन-रात की मेहनत से अच्छा गुजारा कर लेते हैं।

●

तीसरी मां तो बनी पर उसे यह डर सताने लगा कि उसके कहीं लड़की न पैदा हो जाए। उसका पति और ससुराल वाले यही चाहते थे कि उनके एक ही बेटा हो। इसके लिए उन्होंने उसके गर्भवती होने के बाद कई जगह प्रयास किए कि किसी क्लीनिक में उन्हें यह पता चल जाए कि उसके पेट में बच्चा है या बच्ची। लेकिन वे जल्दी सफल न हो पाए। उन्होंने कर्मकांड और गुरु-चेलों का सहारा भी लेना शुरू किया जिससे उनके यहां बेटा ही हो। न जाने कितने मंदिरों और धर्म-स्थलों में जा-जाकर मन्तें मांगी गईं। जब आठ महीने हुए तो उसके पति ने एक क्लीनिक में खूब पैसे देकर यह पता लगवा लिया कि उसकी पत्नी के पेट में लड़का नहीं बल्कि लड़की ही है। फिर क्या था पूरे घर में जैसे तूफान आ गया हो। लेकिन अब कुछ नहीं किया जा सकता था। उसके लिए यह परेशानी का सबब बन गया था। रोज ससुराल वालों के ताने सुनने पड़ते।

उसे मां और दादी की बातें याद आ जातीं कि जब उसका जन्म हुआ तो घर में कन्या आने की कितनी खुशियां मनाई गई थीं। उसे लक्ष्मी के रूप में पूजा गया था। गांव में किस तरह लोग लगातार बधाइयां देने आते रहे थे लेकिन आज ऐसा क्या हो गया कि कन्या को लक्ष्मी तो दूर, उसे घर में अपशुगुन माना जाने लगा है। उसके आने से मातम जैसा माहौल हो जाता है। पर अब तो कोई रास्ता नहीं था। यह पहले से तय कर लिया गया था कि जन्म लेते ही उस फूल-सी नन्हीं का क्या किया जाना चाहिए। उसी दिन अस्पताल से घर आते वक्त उन्होंने उस नन्हीं जान को एक कचरे के ढेर में फेंक दिया।

●

चौथी मां ने अपने बच्चों की ज़बरदस्त परवरिश की। उनकी पढ़ाई-लिखाई उच्च स्तरीय अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में करवाई गई। लाखों रुपए देकर विदेशों में उनकी कई तरह की ट्रेनिंगें हुईं। उसी तरह उनकी नौकरियां भी लगीं। कोई इंजीनियर बना और विदेश चला गया, कोई अधिकारी बन कर अपनी पत्नी के साथ किसी दूसरे शहर में बसने लगा। सभी ने अपने-अपने लाखों-करोड़ों के कारोबार शुरू कर दिए। पर उन्हें अब अपना घर, शहर और देश छोटा लगने लगा। वह मां इसी में खुश थी कि वह ऐसे बच्चों की मां है जिनके पास दुनिया की हर सुख-सुविधा है। खुशियां हैं। जैसे-जैसे वह बूढ़ी होने लगी उसके बच्चे उसकी देख-रेख की वजह से परेशान रहने लगे। उनके आलीशान घरों और बंगलों में कुत्तों को तो जगह थी पर उसके लिए नहीं। दूसरे अपनी नौकरी और कारोबार की व्यस्तताओं के कारण उन्होंने यही उचित समझा कि मां को किसी वृद्धाश्रम में डाल दें। अब वह मां आश्रम में रह रही थीं। कुछ दिनों बाद उसकी आंखें तक चली गईं। अपने शरीर का भी सुख न रहा। उसके लिए बाहर की दुनिया जितनी अंधेरी थी भीतर के संसार में उससे भी अथाह अंधेरा पसर चुका था। बच्चों को उसके बाद उसकी कभी याद नहीं आई।

●

पांचवीं मां के इतने बच्चे थे कि उनकी कोई भी गिनती नहीं थी। वे बच्चे हर जाति-समुदाय के थे। नेता-राजनेता थे। अफसर और बाबू थे। गरीब और अमीर थे। लूले-लंगड़े थे। सभी उसके पास आते पर मां स्वयं कहीं नहीं जाती। वे अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक मां को कुछ न कुछ देते रहते पर वह कभी शिकवा नहीं करती। उसकी सुबह-शाम पूजा होती। उसे तरह-तरह के भोग चढ़ते। तरह-तरह के पकवान बनते। मेवे, मिठाइयां और फल दिए जाते। चांदी और सोने के गहने पहनाए जाते। इसके बावजूद भी उसकी किसी से कोई शिकायत नहीं होती क्योंकि वह मंदिर में स्थापित रहती। उसके बच्चे उसके पास हजारों कामनाएं लेकर आते-जाते रहते।

● उस तीसरी मां ने जिस दिन उस नन्हीं सी जान को कचरे के ढेर में फेंका उन्हीं दिनों पहली मां यानी बंदरिया के हाथ में उसके बच्चे का बचा वह शेष अंश भी समाप्त हो गया था। वह नगर निगम के गटर के कहीं आसपास रही होगी। कचरे में बिलखती बच्ची की जब उसने आवाज सुनी तो वह उसके पास चली आई। वह रात भर उसी के पास बैठी चीखती-चिल्लाती रही। इतना ही नहीं कई बंदर भी उसके आसपास बैठे पूरी रात जागते रहे थे। कई बार गीदड़ों ने उस नन्हीं जान को नोचने के प्रयास किए। आवारा कुत्तों के एक झुण्ड ने जब उस तरफ रुख किया तो बंदरों के साथ उनका जम कर हंगामा हुआ। जब उन्हें भी उस नन्हीं जान का कचरे के ढेर में पड़े होने का एहसास हुआ तो वे भी पूरी रात आसपास जमे रहे।

सुबह जब एक अखबार वाले ने यह दृश्य देखा तो देख कर स्तब्ध रह गया। उसने तत्काल पुलिस को सूचना दी।

● पुलिस मौके पर पहुंच गई है। धीरे-धीरे लोगों की भीड़ जमा होने लगी है। जो भी इस दृश्य को देखता है दांतों तले उंगली दबा लेता है। बहुत कोशिश के बाद भी उस बंदरिया के पास से वह बच्ची नहीं उठाई जा सकी है। क्योंकि एक तरफ से बंदरों का हमला हो रहा है तो दूसरी तरफ शहर भर के आवारा कुत्ते इकट्ठे होकर उग्र हो उठे हैं। वे पुलिस और लोगों पर लगातार आक्रमण कर रहे हैं। कौवों का एक दल चारों तरफ मंडरा रहा है। उनके कुड़कुड़ाने का शोर वातावरण को अत्यन्त डरावना बना रहा है। एक कंटीली झाड़ी पर जो बिल्कुल बच्ची के साथ वाली पहाड़ी पर है, असंख्य छोटी-छोटी चिड़ियाएं इस तरह चहचहा रही हैं जैसे उन्होंने किसी भयानक अजगर को देख लिया हो। आसमान में काफी ऊपर से एक-दो बार एक बाज ने झपट कर पूरी ताकत के साथ उस नन्हीं को उठाने के प्रयास तो किए पर वह सफल न हो सका। या फिर जब उसकी समझ में आया होगा कि वह एक परित्यक्त नन्हीं सी जान है तो उसने अपना इरादा बदल दिया होगा। वह दो बार जिस तीव्र रफ्तार से वहां झपटा उसी वेग से उल्टे पंख ऊपर चला गया। आज बरसों बाद कई गिद्ध भी आसमान में चक्कर लगाते दिखाई दे रहे हैं।

पुलिस ने अपने विशेष बचाव दल को वहां बुला लिया है। मीडिया को भी अब भनक लग गई है और कई मीडिया रिपोर्टर अपने-अपने हाथों में कलम, डायरियां और कैमरे लेकर वहां डट गए हैं। एक दो स्थानीय चैनलों ने तो लाइव प्रसारण के प्रबन्ध कर दिए हैं।

कुछ राजनीतिक दलों के नेताओं को भी इस बात की भनक लग गई है कि उस छोटी सी घटना को मीडिया बहुत बड़े रूप में दिखाने जा रहा है। इसलिए वे भी कहां पीछे रहने वाले हैं। सत्तारूढ़ दल के एक नेता ने तो उस अखबार वाले को ही ढूंढ कर मौके

पर ला कर मीडिया के सामने खड़ा कर दिया है कि यह उन्हीं की पार्टी का एक सदस्य है जिसने इस बच्ची को सबसे पहले यहां देखा है। लेकिन उसी समय विपक्ष के दो तीन नेताओं ने आकर धावा बोल दिया है और उन में से एक ने तो अखबार वाले को अपना सगा चाचा तक करार दे दिया। अब दोनों पार्टियों में इस बात का श्रेय लेने की होड़ मची है कि पहल किस की हो। इस बात का श्रेय किस को मिले कि उस नन्हीं जान को सबसे पहले किसने देखा है और पुलिस को खबर की है।

●
पुलिस और बचाव दल को इस तमाम झमेले में बच्ची को कचरे के ढेर से निकालने में बेहद परेशानी होने लगी है। उनके लिए दोनों पार्टियों के कार्यकर्ताओं के झगड़े, मीडिया की कवरेज और लोगों की भीड़ से ज्यादा बंदरों से निपटना मुश्किल हो रहा है क्योंकि कुत्तों को तो भगा दिया गया है पर उस बंदरिया के साथ अब तमाम टोलियों के बंदर वहां पहुंच गए हैं। उनके हमलों को झेलने की किसी में हिम्मत नहीं है। वे अत्यन्त आक्रामक हो गए हैं।

बचाव दल ने अब एक तरकीब निकाली है। जहां वह नन्हीं बच्ची है उसके ठीक ऊपर एक दूसरी सड़क है जहां उन्होंने एक विशाल ट्रॉली-क्रेन लगा दी है जिसमें एक सुरक्षाकर्मी दो सहयोगियों के साथ नीचे उतर रहा है। यह ट्राली बिल्कुल उसी जगह ऊपर रुकी है जहां वह नन्हीं जान अब बेसुध पड़ी है। वह बंदरों की पहुंच से भी दूर और सुरक्षित है। देखते ही देखते बच्ची को उठा लिया जाता है पर भीड़ पर बंदरों का आक्रमण और भी तेज हो गया है। बहुत से लोग बंदरों ने जख्मी कर दिए हैं।

●
वह बच्ची अब स्नोडन अस्पताल के चिल्ड्रन वार्ड में सुरक्षित है। कई चैनलों ने लाइव प्रोग्राम में उस नन्हीं जान को पूरी घटना के साथ दिखाना शुरू कर दिया है और हर चैनल के पास बीसियों लोगों के ऐसे नाम दर्ज हैं जो उस बच्ची को गोद लेना चाहते हैं।

लेकिन उस बच्ची को अपनी असली मां के दूध की अभी भी बहुत जरूरत है।

पचहत्तर बरस का जादू

राजेंद्र शर्मा

बचपन में पढ़ी उस बांसुरी वादक की कहानी याद आती है जिसकी धुन पर पहले पीछे-पीछे चलते सम्मोहित चूहे समुद्र में जा गिरे, फिर लड़कियों की बारी थी। सत्तर के दशक की शुरुआत में जब 'पहल' की शुरुआत हुई तो हिन्दी के युवा लेखकों की कतार भी कुछ इसी तरह सम्मोहित होती चली गयी। अपनी रचनाओं की स्वीकृति/अस्वीकृति के बारे में एक पोर्टेबुल टाइप राइटर पर टाइप हुआ पोस्टकार्ड अपनी छाती पर पदक की तरह टांगें युवा लेखक घूम-घूम कर बताते फिरते थे कि ज्ञान जी का पत्र उन्हें अभी अभी मिला है। यह बात इतने आत्मविश्वास से कह रहा हूँ तो सिर्फ इसलिए कि इन लोगों में मैं भी शामिल रहा हूँ। और चालीस बरस बीतते न बीतते आज भी शामिल हूँ। इस तरह के हजारों पोस्टकार्ड देश भर में आज भी कहीं-न-कहीं सुरक्षित बिखरे होंगे। अगर कोई इन्हें इकट्ठा कर ले और एक श्रेणीबद्ध अध्ययन प्रस्तुत कर दे तो वह पी-एच.डी. का हकदार हो सकता है। इन पोस्टकार्डों से हिन्दी साहित्य के इतिहास की शक्ति बदल सकती है। इनमें पाठालोचन के उत्कृष्ट नमूने मिल सकते हैं।

१९६० के बाद का समय ऐसा था जब साहित्य के परंपरागत केन्द्र रहे बनारस-इलाहाबाद-कोलकाता ने खामोशी अख्तियार करना शुरू कर दिया था। यहां से लेखकों का प्रवासी पक्षियों की तरह दिल्ली और अन्य राज्यों की राजधानियों/शहरों की ओर उड़ना बढ़ गया था। सातवें दशक में बिहार से आरा और गया जैसी छोटी छोटी जगहों का महत्व अचानक ही बढ़ने लगा था। ऐसे ही समय में ज्ञानरंजन ने इलाहाबाद छोड़कर जबलपुर में अपना डेरा जमाया। जबलपुर में हरिशंकर परसाई थे और शानी, शरद जोशी, प्रमोद वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल, चंद्रकांत देवताले, अशोक वाजपेयी, भगवत रावत, सोमदत्त जैसे लेखक कवि मध्यप्रदेश के भिन्न-भिन्न छोटे शहरों से अपने लेखन के जरिये सारे हिन्दी क्षेत्र को प्रभावित कर रहे थे। मुक्तिबोध राजनांदगांव जैसे कस्बे के निजी महाविद्यालय में अध्यापन कर रहे थे। परसाई जी जबलपुर से 'वसुधा' निकाल रहे थे और

ये सभी चर्चित अचर्चित नाम उससे जुड़े हुए थे। ज्ञान जब जबलपुर आये तो वे बाकायदा एक स्थापित कहानीकार हो चुके थे। कमला प्रसाद तब तक हिन्दी में एक अनजाना सा नाम थे। उन्होंने 'पगध्वनि' नाम की एक पत्रिका निकाली थी- बस! वह भी कितने लोगों का ध्यान खींच पाई थी-कहना कठिन है। कुछ बरसों पहले ज्ञानरंजन भी 'आधार' नाम की एक लघु पत्रिका इलाहाबाद से निकाल रहे थे। उसका ध्यान भी अब लोगों को शायद न हो। फिर मध्यप्रदेश से 'पहल' की शानदार शुरुआत हुई। कैसे यह काशीनाथ सिंह के शब्दों में सुनिये-

“बनारस लौटने के काफी दिनों बाद एक सूचना मिली! ऐसी कि मन मस्त हो गया!

मैं कमला को जानने लगा था इसलिए कल्पना कर सकता हूँ कि क्या हुआ होगा? हुआ यह होगा कि समापन के बाद बाहर से आये लेखक विदा होने लगे होंगे तो कमला प्रसाद ने ज्ञानरंजन और दो-चार मित्रों को रोक लिया होगा।

'पहल' की योजना इन्हीं ऐतिहासिक क्षणों में बनी होगी!

मैंने उन दो दिनों में देख लिया था कि कमला नाम का यह आदमी लग जाय तो बालू में से तेल निकाल ले।

कमला ने कहा होगा कि लोगों की इच्छाओं और भावनाओं को देखते हुए अपने लोगों को एक पत्रिका निकालनी चाहिए-भले वह त्रैमासिक या अनियतकालीन हो। 'पगध्वनि' के संपादन का अनुभव कमला को भी था और इलाहाबाद से उन्हीं दिनों प्रकाशित 'आधार' के संपादन का ज्ञान को भी। फिर ज्ञान एक रचनाकार, 'पिता' और 'घंटा' जैसी कहानियों का लेखक, सांस्कृतिक और साहित्यिक केन्द्र के विस्तृत दायरे का संपर्क और संस्कार। सतना और जबलपुर के बीच की दूरी ही कितनी है? आना-जाना बराबर लगा रहता है। जब अपन जरूरत समझेंगे, मिल लिया करेंगे... बस चाहे जैसे हो, पत्रिका निकालनी चाहिए।

ज्ञानरंजन उन दिनों वह नहीं था, जो आज है। इलाहाबादी आधुनिकता और 'परिमल' के संस्कारों से पला-बढ़ा ज्ञान, अलमस्त और फक्कड़ और अल्हड़! हो सकता है, कंधे पर जुआ रखा जाता देख भड़का हो। ऐसे भी पत्रिका निकालना कोई मजाक तो है नहीं कि चाहा और निकल गई! वह अधिक से अधिक मित्र लेखकों से रचनाएं मंगाने की जिम्मेदारी ले सकता था लेकिन बाकी सब? कागज और छपाई और बाइंडिंग और कवर और वितरण और विज्ञापन और दुनिया भर के खर्च?

इसे क्या कहिए कि ऐसे ही मुश्किल क्षण के लिए सिरजनहार ने कमला को सिरजा है। कमला ने ज्ञान को घेर लिया होगा- 'तुम सिर्फ 'हां' भर कर दो। बाकी अपन देख लेंगे।'

और यही देखने के लिए हुआ होगा कि पत्रिका का आरंभिक अंक सतना से निकाला जाए और उस पर दोनों संपादकों के पते दिए जायें।

अब पत्रिका का नाम क्या हो, समस्या यह रह गई थी।

कमला ने कभी बताया था कि सात-आठ नाम विचार के लिए रखे गये थे और काफी विमर्श के बाद एक राय बनी कि पत्रिका का नाम 'पहल' हो।

इस तरह नामालूम से एक कस्बाई शहर ने एक आंदोलन की शुरुआत की।”

तो ऐसे ऐसे 'पहल' की शुरुआत है। बाद में तो इतिहास है। यह इतिहास पिछले बरस २०१० तक लगातार ६० अंकों का है। बीच में कमला जी का साथ छूट गया। फिर सम्पादकीय सलाहकारों के भारी भरकम नाम छपे। पर सब जानते हैं यह अकेले ज्ञानजी का ही काम है। फासिज्म विरोधी अंक, पाकिस्तान में उर्दू कलम, समकालीन कविता विशेषांक (इस नवान्न में), मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र ये सभी अंक कमला जी और ज्ञान जी ने प्रशंसकों-सहयोगियों के साथ मिलकर निकाले। पाठकों को याद होगा कि 'पहल' के लिफाफों पर उनके पते ज्ञान जी खुद अपने हाथ से लिखते थे। जिन्हें उनके पत्र नहीं मिले, उनकी हस्तलिपि तो उनके पास भी सुरक्षित होगी ही।

ज्ञान जी कविता के अनूठे पारखी हैं। उनके साथ बितायी शामों में इलाहाबाद, जबलपुर, और भोपाल के अलावा प्रलेस के कार्यक्रमों/शिविरों में बिताए क्षणों का आत्मीय अंकन हृदय पर सुरक्षित है। लम्बी बहसों में उनका पक्ष मंत्रमुग्ध होकर सुनते रहना और फिर सारी असहमतियां भुलाकर सामने वाले के लिए तात्कालिक रूप से सहमति में सिर हिला देने का जादू उन्हीं के बस का है।

यह जादू पचहत्तर बरस का हुआ। शतायु होने की कामना है।

शताब्दी संदर्भ : फैज़ अहमद फैज़

फैज़—जमाल से जलाल तक

(प्रेम से प्रतिरोध तक)

अली अहमद फ़ातमी

शेरो अदब के हवाले से ये बात बार बार दुहरायी गई है कि बाधा व असंतोष वगैरह नैसर्गिक तत्व तो हैं, लेकिन रचनात्मक इज़हार में यह बात दृष्टिगत रखनी चाहिए कि अदब का चेहरा विकृत न होने पाये, अर्थात् अदब की साहित्यता या शेर की काव्यता हर हाल में बरकरार रहनी चाहिए। गुज़शता दहाइयों में एक खास तबक़ए फ़ि़र की जानिब से ये बात इतनी बार दुहराई गई है कि बज़ाहिर ये बात माकूल सी नज़र आती है बुनियादी सवाल यह है कि अदब है क्या? और इसकी अदबियत क्या है? और शेरियत किसे कहते हैं? कुछ आलोचकों की नज़र में अगर अदब और शायरी से मुराद महज़ काव्यता है, नगमगी है मृदुलता है तो फिर किसी तरह की संघर्षशील शायरी शेरो सुखन के नर्म-व-नाजुक चेहरे को विकृत तो करेगी, या कम से कम ख़राश तो डालेगी ही, इसीलिये कहा जाता है कि नगमगी का चेहरा अलग होता है और कर्कशता का अलग दोनों संवेदना अलग-अलग होती हैं, अगर जिन्दगी में कर्कशता है तो शायरी में भी कर्कशता के लक्षण नज़र आयेंगे। ये मुमकिन नहीं कि चारों तरफ आहो ज़ारी हो, शेरो गुल हो। रन्जोगम हो और शायर किसी टीले पर बैठा उन खूरेज़-व-दिल आज़ार मनाज़िर को देख कर बांसुरी बजा रहा हो। चारों तरफ शेरो गुल हो तो सरगोशियाँ खुद से अपना अर्थ खो देती हैं। जिस तरह जिन्दगी के चेहरे विभिन्न होते हैं, उसी तरह शेरो अदब के चेहरे भी अलग-अलग होते हैं, इसीलिए कहा जाता है कि हर तरह की शायरी की काव्यता अलग-अलग होती है या होनी चाहिए। जिन्दगी बज़ाते खुद कहीं नगमा है, अलाप है कहीं चीख़ पुकार भी। इस नगमा अलाप और चीख़ पुकार को अलग-अलग ढंग से समझने की ज़रूरत है। हमारी मुश्किल ये रही है कि उर्दू आलोचना ने या उर्दू काव्य ने इन सबको अलग-अलग ढंग से समझने की ज़रूरत महसूस नहीं की। गज़ालिया शायरी या इश्किया शायरी मेज़ाज़ो मज़ाक और शेरियात इतनी प्रायः रही कि नज़्म की हकीकत माहियत हमने

ठीक से समझी ही नहीं, चे जाये के संघर्ष और एहतेजाज जिसे इब्तेदा से ही उर्दू के मेयार परस्त (आदर्श) आलोचकों ने खराब निगाहों से देखा और नापसन्द किया। ये एक लम्बी बहस है, जिसे महज़ एक लेख में समेट पाना मुमकिन नहीं। लेकिन इतना समझना ज़रूरी है कि व्याकुलता संघर्ष एहतेजाज और इंकलाब इन सब की अलग अलग मन्जिलें हैं कैफ़ियतें हैं, क्लासिकी कल्पनाओं की, इन्सान दोस्ती की शायरी, संघर्षों शायरी और बाद के दौर की एहतेजाज और इंकलाबी शायरी एक दूसरे से वाबिस्ता होते हुए भी अलग अलग अहसास हैं लेकिन नादानी और तन आसानी की वजह से सब का घाला मेला हो गया, और मुख़ालिफ़ नज़रिया ने इसे नारेबाज़ी की शायरी कह कर बहिष्कृत कर दिया नापसन्दीदा करार दिया उनका महदूद जौके जमाल और तअय्युश पसन्दाना नज़रिया आगे बढ़ कर मकसादियत, खाराजियत और सामाजियत वगैरह को भी कुत्सित निगाहों से देखता रहा और गैर तार्किक बहसें करता रहा।

ये सच है कि मज़ाहेमत अरबी शब्द है। और ज़हमा से उधार है जिस का शाब्दिक अर्थ हरीफ़ से टक्कर लेने या आत्मरक्षा के होते हैं, अग्रेजी में इसका बदल Resistance है, लेकिन हम ये भी जानते हैं के जो अतंर Resistance और protest में हैं और जो फर्क protest और revolution में है वही फर्क मोज़ाहेमत एहतेजाज और इन्केलाब में है, हमारे पास एक और लफज़ बगावत भी है जो इन्केलाब के बहुत करीब है। हमारे एक दोस्त ने 'इक़बाल' के इस शेर-

जिस खेत से दहकों को मयस्सर न हो रोटी।

उस खेत के हर खोशाए गन्दुम को जला दो।।

के बारे में कहा कि एहतेजाज की ये आवाज़ चीख में बदल गई है गोशे अदब पर गिराँ गुज़रती है। पहली बात तो ये कि यह चीख नहीं है बल्कि गुमों गुस्सा में डूबी हुई एहतेजाज की वह मन्जिल है, जहाँ से इंकलाब की शुरुआत होती है। फिर जब ज़िन्दगी में कभी कभी चीख का अपना एक अमल है, ज़रूरत है तो फिर शायरी में क्यों नहीं। एक खगस तरह की एहतेजाजी शायरी में चीख की वही अहमियत है जैसे एक ख़ास तरह की शायरी में खामोशी की सबकी अपनी अलग अलग अहमियतों सार्थकता है और अगर इन सबकी अहमियत है। और यकीनन है तो फिर इसकी सौंदर्यात्मकता भी होगी

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।

देखना है ज़ोर कितना बाजुए क़ातिल में है।।

जैसा शेर फ़िक्रोफन और मेयार परस्तों की जमालियात के ऐतेबार से जो भी हैसियत रखता हो। लेकिन एक बड़े मुल्क की बड़ी तारीखी, सियासी और इंकलाबी जिन्दगी में उसने व्यापक रोल अदा किया और हुसुले आज़ादी में बेहद अहम हिस्सादार रहा। अगर कोई शेर रिवायती शेरियात के पैमाने पर बहुत खरा नहीं है। लेकिन समाजियात और सियासियात के बारे में गैर मामूली कामयाब है और तारीख़ में बेहद अहम रोल अदा कर रहा हो और या और कर चुका हो तो उसकी अहमियत व सार्थकता से इन्कार नहीं किया

जा सकता एलिया अहिरनबर्ग के ये मशहूर जुमले दुहराता हूँ।

“एक अदीब के लिए यह जरूरी नहीं कि वह ऐसे अदब की रचना करे जो भविष्य की

सदियों के लिए हो इसे ऐसे अदब की रचना

पर भी कुदरत सामर्थ्य होनी चाहिए, जो सिर्फ एक लम्हे के लिए हो, अगर उस एक लम्हे में उसकी किस्मत का फैसला होने वाला है।”

जिन्दगी एक प्रगतिशील अमल है, और यह प्रगति का ये अमल फिकरो फितरत के बेहद करीब होता है जिसका बहुत बड़ा हिस्सा जिन्दगी को बेहतर से बेहतर बनाना और इन्सान को खुशहाल और इन्सानी वातावरण को खूबसूरत बनाना है जिस पर इन्सानी तहजीबी सभ्यता एवं संस्कृति का दारोमदार है। तारीख भी जमालियात के इसी पहलू पर टिकी रहती है। इतिहासकार चिंतक इस तबदीली को इस अन्दाज़ से भी देखो लेकिन शेरुअदब में इसका एक ही पहलू सबसे बड़ा है और वह है इन्सानी तहजीब का उत्थान जो जमालियाती रुख अपनाये बगैर उन्नतशील हो ही नहीं सकता सृजनशक्ति और कल्पना की उड़ान इसी इमकाने इन्सानी की तलाश के अनिवार्य अनासिर हैं, इसीलिए शायीर खाह इशकिया हो या मज़ाहेमती नज़रिया खाह रोमानी हो या इंकलाबी इस सम्भावना को छुए बगैर काबिले कद्र हो ही नहीं सकती इसलिए फिक्र मार्कसी हो या गैर मार्कसी इन्सानी अक्ल और संजीदा ज़हन इसी इमकान और ज़हन की जमा के साथ ही आगे बढ़ता है। ज़ज्बात एहसासात की तमाम तब्दीलियाँ अगर उस अक्ल समझ से बाबस्ता हैं तो उनकी सौन्दर्यात्मकता को इन्सानी जमालियात से अलग करके देख पाना मुमकिन नहीं। इसीलिए कहा जाता है हर शायर अपने अहद का मुजाहिद होता है, अपने अहद का ज़मीर होता है। उसकी आवाज़ होता है और उस आवाज़ की कोई सरहद नहीं होती। जैसे इन्सानियात की कोई सरहद नहीं होती। लेकिन इस आवाज़ को इन्सानियत की लय बनने में नग़मा और गीत बनने में और उसकी जमालियात कायम होने में एक उम्र तो लगती ही है। तजर्बा और मोशाहिदा की उम्र विवेक एवं बोध की उम्र।

फैज़ ने जब शायरी शुरू की तो शुरू में रिवायती तौर पर जिन्सो जिस्म की इशकिया शायरी की, लेकिन जल्द ही एक वाक्ये के तहत प्रगतिशील आन्दोलन से वाबिस्ता हो गये लेकिन उसके बावजूद बहुत समय तक उन पर ‘हसरत मोहानी’ ‘अख़्तर शिरानी’ और उर्दू की क्लासिकी शायरी और ख़ासकर ग़ालिब की शायरी का असर रहा। तहरीक से वाबिस्तगी के बावजूद वह मज़ाहमती और एहतेजाजी शायरी को रोमानी असलूब से अलग नहीं कर सके। ‘नक्शे फरियादी’ और ‘दस्तेसबा’ की कुछ अहम नज़मों को मुलाहिज़ा कीजिये, इसमें बेचैनी और संघर्ष है लेकिन शैली से समझौता नहीं। नज़्म ‘तन्हाई’ में असलूब इस कद्र अस्पष्ट हो गया है कि आज तक आम पाठक क्या बड़े बड़े आलोचक भी नज़्म के केन्द्र बिन्दु को महज़ ‘तनहाई’ या एहसासे तन्हाई से वाबिस्ता करके देखते हैं। कम लोग ही इस नज़्म में छुपे इन सियासी इशारों को समझ सके हैं, जो एक मखसूस

लम्हे में वामपक्ष की शिकस्त के हवाले से महरुमी व मायूसी बन कर एहसासे तन्हाई में ढल गये हैं और मसीहा का इन्तेजार महबूब का इन्तेजार समझा जाता रहा। ये कुसूर आलोचकों का कम 'फैज़' की भ्रम का ज़्यादा है जो अकसर 'हाफ़िज़' और ग़ालिब के जेरे असर उन्हें संघर्षशील शायरी की असल राह पर लाने से रोकती रही। 'ज़िन्दों' में भी कही गयी शायरी को गौर से मुलाहिजा कीजिए। इन सब में गहरी संघर्षशील और समाजी समझ तो है लेकिन रंग रुमानी है और कहीं कहीं अस्पष्ट इसीलिए एक जगह सरदार जाफ़री ने कहा।

“ये बनावट परस्ती का नतीजा है कि .फैज़ ऐसा बाकमाल शायर अस्पष्टता का शिकार होकर रह गया। यही नहीं 'बल्कि अस्पष्ट रूपकों से नज़्म को आरासता करने की कोशिश ने एक और गुल खिलाया और उस नज़्म सुब्हे आज़ादी के मिसरे बे माअने होकर रह गये”

(तरक्की पसंद शायरी के बुन्यादी मसायल)

खुद .फैज़' ने भी अपनी निजी, मिजाजी कैफियत का इज़हार नम्र, नज़्म में कई जगह किया है। एक गुप्तगू में कहते हैं, “भई हम तो ऐसे ही हैं हम माशूक के दरवाजे पर दस्तक देंगे तो ऐसे ही देंगे” और शायरी में भी- “सुलूक जिससे किया हमने आशिकाना किया”

लेकिन ये सिलसिला उसी वक्त तक जारी रहता है जब तक वह फारसी में 'हाफ़िज़' उर्दू में 'ग़ालिब' और अंग्रेजी में 'ब्राउनिंग' से प्रभावित रहे। लेकिन वह जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, और रुस फिलिस्तीन, 'बेरुत' लन्दन वगैरह में उनकी आमदोरफ़्त हुई। सबके समाजी व सियासी हालात देखे हाँ के इंकलाबी शायरी की गूँज सुनी। नाज़िम हिकमत, पाबलूनरोदा, एलिया अहिरनबर्ग सार्त और रुस के दीगर इंकलाबी चिन्तक व शोअरा के करीब आये इधर अपने वतन पाकिस्तान के समाजी सियासी हालात भी बद् से बद्तर होने लगे। फ़ौज़ी अमरियत ने शिकंजे कसे उमस और घुटन का माहौल मिला जुल्म और ज़ब्र के दायरे तंग हुये तो .फैज़ बाक़ायदा न सिर्फ़ कौमी पत्रकारिता से सम्बद्ध हुये बल्कि मज़दूरों और मुलाज़मीन के आन्दोलन से भी सम्बद्ध होते गये। इस कमज़ोर हालात को अपनी चश्में बीना से देखकर उनका दर्दमन्द दिल, इन्सान दोस्त व्यक्तित्व पिघलता चला गया- जैसे जैसे पिघलता गया वैसे वैसे जमाल जलाल में बदलता गया और उनके न सिर्फ़ फिक्री बल्कि शाब्दिक शैली में गैर मामूली बदलाव आता गया। यही कारण है कि उनकी वह इंकलाबी नज़्में जो अवाम की सतह पर बेहद मकबूल हुयीं उनमें से अक्सर बाद के दौर की हैं।

.फैज़ ने ४२ से ४७ तक कुछ नहीं कहा लेकिन ४७ के बाद जब वह अपनी फ़ौज़ी ज़िम्मेदारी से सेवानिवृत्त होकर लाहौर के विभिन्न समाचार पत्रों से सम्बद्ध हो गये और पत्रकारिता के करीब आये और सीधे राजनीति के और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भी तो इसी मोड़ व मकाम से उनकी शायरी एक नये दौर में दाखिल होती है दरम्यान

का दौर अधिकतर असमंजस का है जो उनकी नज़्म सोच में नज़र आता है। जिसकी एक वजह तो ये हो सकती है कि हिन्दोस्तान के अक्सर आलोचकों को इस बात का ज्ञान कम रहा कि 'फैज़' पाकिस्तानी पत्रकारिता और राजनीति में किस प्रकार सक्रिय रहे और उस सक्रियता ने एक नये इन्क़ेलाबी को जन्म दिया। दूसरी वजह इससे अधिक महत्वपूर्ण है, और वह है उर्दू शायरी का इशक़िया व परम्परागत मिज़ाज। ये एक तल्ख़ हकीकत है कि हम सदियों से तन्हाई की शायरी के आदी रहे हैं दर्शन के नहीं- हमारी तहज़ीबे शायरी में हमारी सरिश्त में इशको मुहब्बत रहस्य एवं आकांक्षा सर्गोशी और धीमापन इस तरह अन्तर्निहित रहा कि हमने 'फैज़' की संघर्ष एवं इंक़लाबी शायरी के धीमेपन को भी एक गुण करार दिया। जबकि इंक़लाब की बनावट में उच्चोत्साह ही उस का सबसे बड़ा गुण हुआ करता है, दरअसल हम फरियाद के आदी रहे हैं ललकार के नहीं, हमने निस्पृहता और अस्पष्टता को ही काव्यता का नाम दे दिया। शुरु में 'फैज़' भी इसी के शिकार थे, 'हाफ़िज़' 'सौदा' 'ग़ालिब' की इब्रहाम गोई (अस्पष्टता) इन्हें पसन्द आती रही। अंग्रेज़ी में Browning के Dramatic Monologue से भी प्रभावित रहे और इस तकनीक को नज़्म तन्हाई में इस्तेमाल किया। जिसे रिवायत पसन्द और जदीदीयत पसन्द आलोचकों ने पसन्द किया।

'फैज़' को इस तन्हाई या इब्रहाम से निकलने में देर तो लगी लेकिन जल्द ही इन्हें एहसास हो गया कि शायरी महज़ तख़लीकी इजहार का वसीला नहीं, बल्कि जज़्बातों-एहसासात, अफकारो नज़रियात की तर्जुमानी का प्रभावशाली स्रोत भी है। और यह तर्जुमानी महज़ खास तक न हो, बल्कि अवाम तक भी हो। इत्तेफ़ाक से उन्हीं दिनों पाकिस्तान के हालात कुछ इस तरह बदले कि वह आवामी संस्कृति के करीब आये और सकाफती इदारों की सिर्फ संचालन की बल्कि कुछ मंसूबो के तहत तहकीको शोध की शुरुआत हुई। खुद 'फैज़' ने एक किताब लिखी 'हमारी सकाफत' जिसमें खालिस आवामी सकाफत की जुस्तजू नजर आती है। 'फैज़' के पुराने दोस्तों की कई किताबें छपी हैं। जिनमें 'अहमद सलीम' और 'अब्दुर रऊफ़ मलिक' की किताबों में उस दौर के 'फैज़' के आवामी रिश्तों और इंक़लाबी खय्यों के तजकिरे बेहद सूचनापरक और अर्थपूर्ण है 'अहमद सलीम' ने अपनी किताब में एक जगह लिखा है।

“'फैज़' लोक विरासत के साइंसी मुताअले को बेहद अहमियत देते थे। लोक फनकारों और गायकों की बेहद कद्र करते थे और कहते थे। हमारा वजूद और बका इन फनकारों से है। फनकार हमारी वजह से नहीं हैं।

एक बार पठाने ख़ाँ का नाम सुनकर वह दौड़े चले आये। पठाने ख़ाँ अपने सादा मिज़ाज और देही पसमन्जर के बावजूद 'फैज़' साहब के अदबी मक़ाम और मर्तबे से वाकिफ़ थे। उन्होंने परेशान होकर फैज़ से कहा। “साईं तुसी क्यों आ गये मैंकू सयद लहरने” इस पर 'फैज़' ने उनको अपने बाजुओं में लेकर कहा- “पठाने ख़ाँ हमारी धरती की पहचान हैं, मैं अपनी पहचान के पास आया हूँ”

उस वक्त तक फैज़ की समझ में आ चुका था कि धरती की पहचान यानी आवामी पहचान ही दरअसल सही इन्सानी पहचान हुआ करती है। कुछ लोगों ने इस तरह से भी सोचा कि .फैज़ इन सबमें कहाँ फंस गये और आशिक .फैज़ इशकिया व गिनाइया शायरी करने वाला शायर .फैज़ कहां भटक गया, लेकिन कम लोग 'इस बात को समझ पाये कि .फैज़ के ज़हन और विज़न को बड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय बनाने में इन वाक़ेआत का ग़ैर मामूली दख़ल है सरदार जाफ़री ने 'जिकरे यार' में अच्छी बात लिखी है।

“कुछ को तकलीफ़ होती है कि इन वाक़िआत में पड़कर एक शायर इन झगड़ों में .फैज़ के नये अक्ल पर धार रखने में इन वाक़िआत का कितना हाथ है।

इसी शऊर की धार जो .फैज़' की १९४७ ई० के बाद की शायरी में तेज़ से तेज़तर होती जाती है।”

सहाफती (पत्रकारिता) संस्कृति और आवामी जिन्दगी गुजारते हुये .फैज़ के एहसास चेतना बोध में पहले पाकिस्तानी हालात फिर दुनिया के हालात दाखिल हुए। जिसकी तफ़सील .फैज़ से सम्बन्धित किताबों में भरी पड़ी है। बस समझिये के ये मिसरे-

जब भी बिकता बाजार में मज़दूर का गोशात।
शाहेराहों प गरिबों का लहू बहता है।।
आग सी सीने में रह रह के उबलती है न पूछ।
अपने दिल पर मुझे काबू ही नहीं रहता है।।

जो कभी महज़ मिसरे थे। अब नारे बनकर .फैज़ की शायरी में गूँज उठे सरे मक़तल जो क़ौव्वाली लिखी उसका ये मिसरा मशहूर हुआ।

“कहाँ है मन्जिले राहे तमत्रा हम भी देखेंगे।”

'हम भी देखेंगे' में जो एक तेवर है उसका पस मन्जर' ये है कि १९४८ ई० में पहली बार पाकिस्तान में प्रगतिशील अदीबों की कांफ़्रेस हुई, दुश्मनों ने इस कांफ़्रेस पर हमला कर दिया। ये नज़्म उसी मौके पर पढ़ी गई बल्कि गायी गई। इसमें एक तेवर है। ललकार है लेकिन फिर भी वह आवामी शैली और लहजा नहीं है। जो आमतौर से इस तरह की इंकलाबी शायरी में हुआ करता है। ये मिसरा देखिये।

जरा सैक़ल तो होले तशनगी बादह गुसारों की।
दबा रखेंगे कब तक जोशे सग़हबा हम भी देखेंगे।।

फिर भी इस नज़्म नुमा क़ौव्वाली ने पाकिस्तानी सरज़मीन पर आवामी सतह पर हंगामा बरपा किया। और एक नये .फैज़ का कच्ची सुबह की तरह जुहूर किया और फिर सुबह-ए-काज़िब सुबह-ए-सादिक में बदल गयी और वह गज़ल के बजाय तराना लिखने बैठ गये। तराना और क़ौव्वाली का ताअल्लुक बहरहाल आवाम से होता है। इसमें वह कह उठे।

ऐ ख़ाक नशीनों उठ बैठो, वह वक्त करीब आ पहुंचा है।
जब तख़्त गिराये जाएंगे, जब ताज उछाले जाएंगे।।

कटते भी चलो, बढ़ते भी चलो, बाजू भी बहुत हैं सर भी बहुत।

चलते भी चलो कि अब डेरे, मन्ज़िल ही पै डाले जाएंगे।।

अब मुजाहिमत (संघर्षशीलता) में इंकलाब का लहजा आ गया। खाक नशीनों से आम और सीधा खिताब, तख़्तो ताज के ख़िलाफ़ सदाये एहतेजाज, सर और बाजू के कटा देने का अन्दाज डेरा और मन्ज़िल तक पहुंचने का मिज़ाज, और फिर इसमें यक़ीन और एतेमाद और लहज़े में चमक और खनक, वह धीमापन जिसके लिए .फ़ैज़ शोहरत रखते हैं इन अशआर में नहीं मिलेगा, और मिल भी नहीं सकता कि सही मायने में एहतेजाजी और इंकलाबी शायरी का यही अन्दाज़ो आहंग होता है। “कटते भी चलो, बढ़ते भी चलो” का अन्दाज़ “कहाँ से आयी निगारे सबा किधर को गई” से बहरहाल मुख्तगलिफ़ है कि मुज़ाहिमत उसमें भी है। लेकिन ‘निगारे सबा’ और ‘दस्ते सबा’ की तरकीबों ने एहतेजाजी शायरी के हवाले से एतेराजात के कई दर खोल दिये थे कि ये तरकीबें और परिभाषायें आवामी हरगिज़ नहीं है जबकि बात आवाम की ही हो रही है। शायद इसीलिए अगले मजमूए का नाम ‘जिन्दाँ नामा’ रखा गया, लेकिन इस दरम्यान यह तो हुआ कि ‘दस्तेसबा’ की नज़्मे ‘जिसमें इरानी तलबा के नाम’ निसार मैं तेरी गलियों, शीशों का मसीहा’ जिन्दाँ की एक शाम’ वग़ैरह ने पूरी उर्दू शायरी को ख़ास तौर से तरक्की पसंद शायरी की कसौटी एवं रसिकता को बदलकर रख दिया। जिन्दाँ नामा के प्रस्तावना में ‘सज्जाद ज़हीर’ ने लिखा।

“मेरा ख़याल है कि उर्दू अदब का आधुनिक दौर उसके रौशनतरीन अदवार में से है। यह दौर तक्रीबन १९३० ई० से शुरू होता है। अभी तक जारी है और अगर हम भूतकाल चार पांच साल को ही ले लें तो मेरे ख़याल में फ़ैज़ की ‘दस्ते सबा’ और ‘जिन्दाँ नामा’ नदीम कासमी की शोला-ए-गुल, सरदार जाफरी की ‘पत्थर की दीवार’ वग़ैरह इस दावे में काफी है कि तख़लीफ़ सृजन का सुर्ख़ शोला जिसमें गर्मी भी है, हरकत भी है और तवानाई भी”

.फ़ैज़ की एहतेजाजी व इंकलाबी शायरी में उस वक्त और अधिक ताकत पैदा होने लगती है। जब वह पाकिस्तान की सरहदों से निकलकर आलमी सियासत को समझने लगते हैं और दुनिया के इंकलाबी शायरों को पढ़ते हैं, और उस समय के इंकलाबी शायरों से दोस्ताना संबंध भी कायम करते हैं। १९६५ ई० एवं १९७० ई० के बीच .फ़ैज़ के दो शायरी मजमूए ‘दस्ते तहे संग’ और ‘सरे वादि-ए सीना’, प्रकाशित हुये। दोनो मजमुओं की शुरुआत ही इंकलाबी नज़्मे से होती है। “आज बाज़ार में पाबा जौलाँ चलो” और ‘सरे वाहिये सीना’ का तो सम्बन्ध ही है।

आज के नाम

और

आज के ग़म के नाम

उर्दू शायरी में ग़म के तजकिरे तो ख़ूब रहे, लेकिन ग़मे इश्क के ज्यादा, थोड़े

बहुत ग़मे हयात के भी, लेकिन पहली बार मजदूर क्लर्क पोस्टमैन, दुखी मायें, बेवाएं इस इंकलाबी अन्दाज से शायरी का हिस्सा बनी, सबको गम से मंसूब किया, और फिर ये भी कहा-

ग़म न कर ग़म न कर
दर्द थम जायेगा ग़म न कर
ज़ख्म भर जायेगा ग़म न कर

मास्को गये तो ये सोचा-

इक ज़रा सोचने दो
किस घड़ी कौन से मौसम में यहाँ
खून का कहत पड़ा
गुल की शह रग पे कड़ा
वक्त पड़ा
सोचने दो

और 'फ़ैज़' की सोच फैलती चली गयी, जो नरौदा, हिक़मत दर्वेश, बर्ग और सार्त तक फैल गयी। सारतर से एक मुलाकात में एक सवाल भी किया "बड़ा अदब क्या होता है?" जवाब था-

"बड़ा अदब पैदा करने के लिए हमेशा कोई हिम्मत उत्साही वीरता मौज चाहिए। जिसमें इन्सान अपने से किसी बड़ी ताकत से युद्धरत हो।

अब यूनानी जमाने के देवी देवता और उनके कारिन्दे नहीं रहे। जिनसे पुराने जमाने के हीरो युद्धरत होते थे। अब तो यह आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ताकतों के खिलाफ़ हो सकता है।"

'सारतर' से ही एक सवाल और था। "आपके नज़दीक आशिक़ाना या गिनाइया अदब का भी कोई मक़ाम है या नहीं? जवाब मुलाहेज़ा कीजिए

"है क्यों नहीं वह तो हर दिल का एक फितरी तकाज़ा है। जिसकी तसकीन लाज़िम है, लेकिन वह तो एक पगडंडी है शाहेराह नहीं। अदबकी शाहेराह (मुख्यमार्ग) को जो किसी दौर में एक मंजिल से अगली मन्जिल तक ले जाती है उस दौर की ज़हनी फिक्री और एखलाकी उफ़क पर पूरी तरह व्याप्त होनी चाहिए। वर्ना बात आगे न बढ़ेगी। आजकल का अदीब अगर इन्सान की मुआशरे की तारीख और अर्थ की संघर्ष से अनभिज्ञ है तो समकालीन सच्चाइयों के बारे में उसका जज्बगती और प्राकृतिक प्रक्रिया खाह कितना ही सही हो इसे बाहर की दुनिया तो कमा अपने

अन्दर की दुनिया के खरे खोटेओ का भी पूरा अन्दाज़ह न हो सकेगा और असमंजस और बेयकीनी उसकी तहरीरों में भी मिलेगी।”

हमारे कुछ आधुनिक बुद्धिजीवी जो सार्त्र के अस्तित्व दर्शन पर गहरा यकीन रखते हैं। उन लेखों को गौर से पढ़ना और समझना चाहिए कि वह अक्सर अस्तित्व दर्शन के बजाय अनास्तित्व दर्शन की तरफ चले जाते हैं। और जिन्दगी की किताब के बजाय मौत की किताब लिख जाते हैं।

बड़े इंकलाबी शायरो और शायरी के अध्ययन ने .फ़ैज़ के ज़ेहन और विज़न को और अधिक फैलाया और दिशायें प्रदान कीं उनकी शायरी का तेवर भी बदलता गया और यह एहसास भी के शायर सिर्फ शायर नहीं होता। तह अपने समय का ज़मीर होता है। उसका नज़रिया पैग़म्बराना भी होना चाहिए। सरहदें खत्म होती हैं। पूरे आलम का इन्सान और उसका गुम उसका विषय हो जाता है। और जब ये गुम महज़ इज़हारे गुम तक न रह जाये। जामे-तख़लीक में दुर्दे तहे जाम बनकर न रह जाये, बल्कि लबे जाम आ जाये तो फिर संघर्ष एहतेजाज में और एहतेजाज इंकलाब में तब्दील होने लगता है। और .फ़ैज़ को यह एहसास हुआ कि इस प्रकार की शायरी के लिए धीमापन नुकसान दायक है। सर्गोशी और नगमगी उसकी कानून में नहीं .फ़ैज़ का पहले लहज़ा ये था।

हम क्या करते किस राह चलते
हर राह में कांटे बिखरे थे
जिस राह चले जिस सिमट गये
यूँ पावों लहू लुहान हुये।

और अब ये आहंग हुआ-

हम देखेंगे
लाज़िम है कि हम भी देखेंगे
वह दिन के जिनका वादा है
जो लौहे अज़ल में लिखा है
जब जुल्मो सितम के कोहे गिराँ
रुई की तरह उड़ जायेंगे
हम महकूमों के पाओं तले
जब धरती धड़ धड़ धड़केगी
और अहले हकम के सर ऊपर
जब बिजली कड़ कड़ कड़केगी
और राज करेगी खल्के खुदा
जो मैं भी हूँ, और तुम भी हो”

इस नज़्म में क्या करते किस रह चलते की शंका खत्म हो गई और वह “लाज़िम है कि हम भी देखेंगे” के यकीन में बदल गई। और यह लाज़िम का लफ़्ज़ महज़ शेर की

आंतरिक बनावट में हुस्न नहीं पैदा कर रहा है बल्कि एक ऐतेमाद और यकीन का एहसास दिला रहा है, और यह भी कि 'दस्तेसबा' और 'निगारे सबा' की गिनाई शायरी में धड़ धड़ और कड़ कड़ की सदा आवाज़ सुनाई देने लगती है। जो बजाहिर .फैज़ के रोमानी शेरी आहंग से मेल नहीं खाती, लेकिन अब इसका क्या किया जाय कि एहतेजाजी व इंकलाबी शायरी का आहंग रोमानी शायरी के आहंग से अलग तो होता ही है और ये बात अब .फैज़ भी अच्छी तरह समझ चुके थे और यकीनन मार्क्स का ख़याल भी उनके जहन में रहा होगा कि सरमायादराना निज़ाम (पूँजीवादी व्यवस्था) में यूँ तो बड़ी खराबियां होती हैं लेकिन उसके द्वारा एक आवामी कल्चर, एहतेजाजी शायरी और आलमी अदब का पैदा होना भी लाज़मी है। .फैज़ का यह लाज़िम उसकी तरफ बलीग़ इशारह करता है, इसी से संतोष का लहजा भी जन्म लेता है।

जुल्म का ज़हर घोलने वाले
कामराँ हो सकेंगे आज न कल
जलवा गाहे विसाल की शम्में
वह बुझा भी चुके अगर तो क्या
चाँद को गुल करें, तो हम जानें।

इसमें 'हम जाने' का इस्तेमाल एक एहतेजाज भी है और ललकार भी जो मोज़ाहेमत के संबंध में एक नये सौंदर्यकल्पना को जन्म देता है।

इस दौर की शायरी में जितनी यातनायें हैं उतनी ही फैलाव भी उसका दायरा फैल जाता है और मौजूआत भी बढ़ जाते हैं। दुनिया का इंसान मुफ़ालिस मज़लूम सब दायरे में आ जाते हैं। १९६२ ई० में जब उन्हें लेनिन इनाम मिला तो तफ़रीर करते हुये उन्होंने कहा।

“इन्सानियत की इब्तेदा से अबतक हर अहद और हर दौर में
विपरीत अवामिल और ताकतें बरसरे
अमल और बरसरे पैकार रही हैं, ये कुव्वते हैं तख़रीबो
तामीर, तरक्की-व-ज़वाल रौशनी और अंधेर
इन्साफ़ दोती और इन्साफ़ दुश्मनी की कुव्वतें
आजकल जंग और अमन् के माने हैं। आदम की अनवरत
और नखारता मुझे यकीन है कि इन्सानियत जिसने
अपने दुश्मनों से आज तक हार नहीं मानी अब भी सफल होकर रहेगी।”

कार्ल मार्क्स ने भी सिर्फ़ अपने मुल्क या पश्चिम को ध्यान नहीं किया बल्कि दुनिया के मजदूरों को एक होने की प्रलोभन दी।

.फैज़ ने भी कहा-

कुछ लोग है जो इस दौलत पर/ पर्दे लटकाये फिरते हैं।
हर पर्वत को हर सागर को /नीलाम चढ़ाये फिरते हैं।

इन दोनों में रन पड़ता है/ नित् बस्ती बस्ती नगर नगर।
हर बस्ते घर के सीने में/ हर चलती राह के माथे पर।
ये आग लगाते फिरते हैं/ वह आग बुझाते फिरते हैं।
उठो सब खाली हाथों को/ उस रन से बुलावे आते हैं।

तसौव्वरे इंकलाब (क्रांती की कल्पना) या क्रांती के दर्शन को समझे बगैर कुछ लोग .फैज़ की इस तरह की शायरी को कमज़ोर और गैर अदबी कहते रहे, लेकिन सच ये है कि .फैज़ को मुकम्मल .फैज़ और बड़ा .फैज़ और खास-वो-आवाम में मकबूल व हर दिलअज़ीज .फैज़ इसी तरह की शायरी ने ही बनाया। आखिरी दौर की शायरी या एहतेजाज़ों इंकलाब पर .फैज़ शर्मिदा नहीं है और न ही तरक्की पसंद अदीबो अदब, . फैज़ की नरम् मिज़ाजी यहाँ भी कोई दावा नहीं करती, बल्कि यही कहती रही-

इस राह में जो सब पै गुज़रती है वह गुज़री।
तन्हा पसे जिन्दों कभी रुस्वा सरे बाज़ार।
जिन्हें खबर थी के शर्ते नवागरी क्या है।
वह खुश नवा गिलाये कैयों बन्द क्या करते।।

इस सब पहलुओं के द्वारा .फैज़ ने अपनी शायरी में धार पैदा की जो बाद की शायरी में तलवार बनकर चमकी, और जो एहतेजाज़ी शायरी का कमाल बनी, तेज और जमाल भी। एक खास किस्म का यकीन और एंतेमाद भी तभी तो शायर कहता है-

हम जीतेंगे
हक्का! हम इक दिन जीतेंगे
बलाआखिर इक दिन जीतेंगे

और ये भी

उठेगा जब जमा-ए-सरफरोशाँ
पड़ेंगे दारो रसन के लाले।
कोई न होगा के जो बचा ले।
जज़ा सज़ा सब यहीं पे होगी
यहीं आज़ाबो सबाब होगा
यहीं पे रोज़े हिसाब होगा

जिन्दगी की आखरी गज़ल और आखरी सांस तक यही एहसास रहा-

बहुत मिला न मिला जिन्दगीसे गम क्या है।
मतायें दर्द बहम है तो बेशोकम क्या है।
करे न जग में अलाओ तो शेर किस मसरफ।
करे न शहरमें जलथल तो चश्में नम क्या है।।

‘नक्शे फरियादी’ से लेकर ‘गुबारे अय्याम’ तक .फैज़ का सृजन सफर बगैर मुलाहेज़ा कीजिये, साफ अन्दाजा होता है कि इब्तेहा में न दारो रसनू है न एहतेजोए

इंकलाब। इन्सानी दर्द है और हल्का सा इहतेजाज भी, लेकिन जैसे जैसे उनका जहनी व फिक्री सफर आगे बढ़ता गया। तो जमाल जलाल में बदलता गया, और आखरी दौर की शायरी में बतौर खास यही उनकी पहचान बन गया और यही मुकम्मल शिनाख्त है। . फ़ैज़ की, जिसे महज़ इश्किया शायरी गिनाई शायर या धीमे लहे का शायर उसके जमालियाती निजाम सौंदर्यात्मक व्यवस्था पर आलोचनात्मक गुफ्तगू करके मुकम्मल नहीं कहा जा सकता एक शायर या फ़नकार की ज़िन्दगी में फ़िक्रोनजर के कई पड़ाव आते हैं उम्रे आखिर में वह अपने संपूर्ण इत्तेहाद चिंतन कला के साथ शायरी करता है और पाठक या आलोचक अपनी पसन्द या न पसन्द या विचार धारा के साथ इसे कुबूल करता है। इस कबूलियत में उसका अपना एक खैय्या व नजरिया तो हो सकता है, लेकिन व्यापक नियम नहीं। मेरा ख़याल है कि मुकम्मल .फ़ैज़ को उस वक्त तक समझा ही नहीं जा सकता, जब तक उनकी एहतेजाजी व इंकलाबी शायरी और उसकी बनावट व सौंदर्य को न समझा जाये अब ये अलग बात है कि हमारे पुराने आलोचकों ने जो शायरी का पैमाना कायम किया है उसका अधिकतर हिस्सा इश्को मुहब्बत, हुस्नोजमाल पर है। सूफ़ी शायरों ने इसमें इश्के इन्सानी के रंग जरूर भरे लेकिन कुछ इस ग़ज़लया और रहस्यात्मक अन्दाज़ से कि इश्के मेजाज़ी व हकीकी का फ़र्क आसानी से महसूस नहीं किया जा सकता। समाजी व एहतेजाजी शायरी के पैमाने हमने बनाये ही नहीं वे जायेके इंकलाबी शायरी। इसीलिए हम .फ़ैज़ की इंकलाबी शायरीव और पूरी तरक़की पसन्द शायरी को नारा बाज़ी खिताबती व्यक्त और न जाने किस किस अन्दाज से बुरा-भला कहते रहे। और अपने कीमती सरमायें को रद करते रहे। जैसे हमने पूर्व में कबीर और नज़ीर को किया। लेकिन हम भूल गये कि दुनिया के हर अदब में इंकलाबी शायरी हुई है और इसे क़द्र की निगाहों से देखा गया है। उर्दू में भी जिन लोगों ने इस तरह की शायरी को पढ़ा और समझा है। उन्होंने उसकी हकीकत माहियत और ख़िदमत का ऐतेराफ़ किया है। सरदार जाफरी में .फ़ैज़ के हवाले से ही लिखा है-

तैश की आतिशे ज़रार कहाँ से लाऊँ।

वह दहकता हुआ गुलज़ार कहां से लाऊँ।।

ये जो आहंग है .फ़ैज़ का इंकलाबी आहंग है जो उस समय का अलाप है, जो दुनिया के हर शायर के यहाँ आपको साझा मिलेगा नरुदा के यहाँ, नाज़िम हिक्मत के यहाँ लुई आरागां सोवियत यूनियन के शायरों के यहाँ, लैटिन अमेरिका के शायरों के यहाँ अरब शायरों के यहाँ ये आहंग है और यह उस दौर का आहंग है। इसलिये कि ये सारी इन्सानियत के संघर्ष का आहंग है।

“ .फ़ैज़ बड़े शायर हैं। अगर उसका मेयार ये है कि उनकी शायरी बेहद हसीन है तो यकीनन कोई दो राय नहीं हो सकती। .फ़ैज़ बड़े शायर हैं कि उन्होंने नया इंकलाबी आलाप दिया है। और इस आहंग में पूरे एशिया पूरे अरब और पूरी दुनिया की तहरीके आज़ादी शामिल हो जाती है।”

वर्तमान दौर के नामवर चिन्तक एवं बुद्धिजीवी 'ऐजाज़ अहमद' ने एकर मज़मून में लिखा है।

“ये मेरा ख्याल है कि हमें पहली बार मौका मिला था कि वह नाज़िम हिकमत हों, और तुर्की में लिखते हों या पाबलू नरौदा हों और स्पेनिश में लिखते हो या एन सीरीं हो फ्रैंच में लिखते हों वह सब अन्तर्राष्ट्रीय एहतेजाजी अदब की तहरीक के मेम्बर थे कारकुन थे, कौन बड़ा है कौन छोटा है उसकी क्या शक्त है उसकी क्या जमालियात वगैरह यह भी मेरे लिये दिलचस्पी की बात है कि एहतेजाजी अदब में शायरी में आपको हमेशा मिलेगी। लेकिन शिष्टता तौर पर एसी के उसकी अपनी अपनी जबानों में अपने अपने मुल्कों में एक साथ जोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त जमालियात के तौर पर आप बना पायें पहले ऐसा न था। मेरे ख्याल में यह बहुत ही अहम महत्वपूर्ण बात है कि जिस चीज़ को हम एहतेजाजी अदब कहते हैं उस अदब ने कहा कि असल अदब हमारा है, और हम तुम्हें ये तैय करके दिखायेंगे कि जबगन की जो सबसे अच्छी शायरी है जो सबसे अच्छा अदब है। हमारा है।”

यूँ तो अदब में हमेशा ही बेचैनी व एहतेजाज की लहरें रही हैं। लेकिन यह भी सच है कि आज के अदब में जो एहतेजाज की लहरें रही हैं। लेकिन यह भी सच है कि आज के अदब में जो इज़तेराब व्याकुलता व एहतेजाज की नुमायां धारें हैं। और जो उसकी विभिन्न शक्तें हैं और उसकी जो गर्मी है हरकतों हरारत है वह आलमी शायरी के एहतेजाज की सामान्यतः और प्रगतिशील आन्दोलन के ज़ेरे असर एहतेजाजी शायरी की मुख्य देन है। जिसमें .फैज़ की अपनी अलग पहचान यह आदतीयत्व इस बात में पोशीदह है कि .फैज़ ने अपनी रुमानी व इंकलाबी शायरी की एक अलग पहचान कायम की है और हर बड़े शायर की शायरी एक अलग किस्म की पैमाने का माँग करती है लेकिन हमारे अधिकतर आलोचक एक ही शेरियात के पटरी पर मुख्तग लफ़ मिज़ाजों मज़ाक के शायरों को दौड़ाते रहे है खाह वह 'मीर' हो, 'ग़ालिब' हों या '.फैज़' हों। जबकि सब अलग अलग दबिस्ताने फिक्री शेर के फ़नकार हैं।

.फैज़ को सामान्यतः आवामी शायर कहा जाता है, लेकिन मेरा ख्याल है कि .फैज़ की शायरी को समझने के लिए एक अकेली परम्परागत रोमानी पैमानी नाकाफी है .फैज़ रिवायती शेरियात से प्रभावित जरूर है लेकिन उन्होंने अपने तख्लीफी सफर और प्रगति फिक्रोनज़र में अपने आप को उससे अलग भी किया है ये ऐखतेलाफ इसलिए भी जरूरी था कि रिवायती शायरी में बकौल 'शम्सुरहमान फारुकी' "...गज़ल के मज़मून में ज्यादातर महरुमी नरसाई और नाकामी के मज़ामीन होते हैं।" लेकिन .फैज़ की रोमानियत में आज़ादी, खुशहाली और मुनासिफी के तत्त्व ज्यादा हैं। '.फैज़' ने एक नई शेरियात को

जन्म दिया, और उसके द्वारा मुल्क व समाज के संजीदह सवालात में सौंदर्यात्मकता के तत्व भर दिये इन्सानी एवं समाजी जमालियात खाली यह कह देना काफी नहीं है कि ‘.फैज़’ का माशूक कभी इन्सान है और कभी वतन असूल बात यह है कि वह रिवायती उदासी और मायूसी को उम्मीदों खुंशी और अभिलाषा में बदलकर तारीख के इस मोड़ पर खड़ा कर देना चाहते हैं जिसे इंकेलाब के अल्ला वह कुछ और नगीं कहा जा सकता, ‘.फैज़’ ने एक नई इंकलाबी जमालियात को जन्म दिया।

‘.फैज़’ की शायरी निसाबी कलास्की और परम्परागत मिज़ाज की पैमाने में फिट ही नहीं कि यहाँ ज़ात के मसायल, इश्को मुहब्बत के रिवायती गुम है ही नहीं। यहाँ ज़ात कायनात में बदल गई है। इसलिये बड़े से बड़े आधुनिक और माबादजदीद आलोचक . फैज़ की शायरी को तरह तरह से खंगालें और हिदायत हैं कि ‘.फैज़’ को ऐसे पढ़े और ऐसे न पढ़े, लेकिन वह असल ‘.फैज़’ को परख ही नहीं सकते, अलग उनके ज़हन् में समाज और बदलते हुये समाज, इन्सान के दुख दर्द का एहसासो विवेक नहीं है, अल्मिया यही है कि आलोचक के पास अक्सर दिमाग़ तो होता है दिल नहीं होता, आज तो होता है कल नहीं होता। वह अपने बनाये हुये उसूलों से जाँचता परखता है, जबकि फन को फनकार के हवाले से जांचना चाहिए। बड़ा आलोचक अपनी दृष्टि से अदब को देखना और दिखाना चाहता है। बल्कि कायनात को भी चलाना चाहता है। जो मुमकिन नहीं होता है। इसलिए अक्सर वह अपनी ज़ात के भँवर में घिर कर लहलुहान हो जाता है। और बड़ा शायर अपने रन्जोगम और जद्दोजहद की चट्टान पर खड़ा मुस्कुराता रहता है।

अनुवाद : शाहनवाज़ आलम

लाज़िम है कि हम भी देखेंगे

प्रणय कृष्ण

फैज़ साहब की प्रोटेस्ट की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह परम्परा और इतिहास की ताकत का भरपूर इस्तेमाल करती है, सभ्यतागत स्मृतियों और जन आन्दोलनों के अनुभवों से भी वह खुराक पाती है। दूसरे, मार्क्सवाद को मानववाद के ही अगले पड़ाव के रूप में समझने के कारण उनकी शायरी का विचार पक्ष बहुत समृद्ध है। फैज़ न केवल पूरे उपमहाद्वीप के शायर हैं, बल्कि इंडो-परशियन काव्य-परंपरा के वारिस होने के चलते एक बड़ा सभ्यतागत घेरा अपने काव्य में बनाते हैं। फैज़ की शायरी की उपमहाद्वीपीय इतिहास, सांभ्यतिक स्मृति और जन-जीवन की नब्ज पर गहरी पकड़, उसके अनुभव और समझ उन्हें दुनिया भर में चलनेवाले हक, खुदमुख्तारी, जम्हूरियत और बराबरी के संघर्षों को भीतर से महसूस करने और उनके साथ होने में मदद करती है। फैज़ साहब की शायरी बयान नहीं है, वो अपने पाठकों और श्रोताओं में पहले से मौजूद कुछ जज़्बातों, सपनों, यादों और रिश्तों को जगा देती है। फैज़ की काव्यभाषा मंत्रों की तरह जन समुदाय की भावनाओं और अनुभवों का आवाहन करती है, भूले हुए एहसासों को जगाती है, दिल में गहरे दफन संवेदनाओं को पुकारती है और उन्हें एक ऐसी काव्यात्मक संरचना प्रदान करती है कि लोगों को उसमें अपने जीवन का मायने-मतलब और मूल्य समझ में आता है। उनकी पूरी शायरी अवाम के साथ एक ऐसा संवाद है जो अवाम की चेतना के दबा दिए गए हिस्सों से रू-ब-रू है। कोई भी फैज़ का निष्क्रिय श्रोता नहीं हो सकता। उन्हें सुनने वाला अवाम, उनका पाठक उनकी शायरी में मानो, अर्थ भरता है। ये वो चीज़ है जो फैज़ की शायरी के अवामी और जम्हूरी चरित्र को समझने के लिहाज से महत्वपूर्ण है। उनकी शायरी एक चुम्बक है जिससे खिंचकर न जाने कितने अनुभव जुड़ जाते हैं। जो बात पैदा होती है, वह है एक ऐसी शायरी जो हमें आमंत्रित करती है कि हम सब उसमें अपने अनुभव मिला दें। फैज़ का पाठक या श्रोता यह एहसास किए बगैर नहीं रह सकता कि वो उनकी शायरी में शामिल है। फैज़ इंकलाब के प्रचारक नहीं हैं। वे तो अवाम में उसके प्रति ललक, हासिल

न हो पाने की मायूसी और अंतहीन उम्मीद के शायर हैं। वे इन भावनाओं का जनता की तरफ से बयान नहीं करते, बल्कि शब्दों के जरिए जनता के भावयंत्र को छेड़ देते हैं। भारतीय ढंग की फारसी शायरी की सारी परंपरा को उन्होंने ज़ब्त कर लिया और साथ ही साथ जनपदीय बोलियों का रंग लिए कई सुंदर गीत लिखे। माज़ी के महान शायरों को उन्हीं के रंग में याद किया। सौदा, गालिब, अमीर खुसरो, इकबाल या फिर अपने हमअसरों को भी, चाहें वो मखदूम मोहिउद्दीन हो या सज्जाद जहीर। फ़ैज़ ने परम्परा, इतिहास, सभ्यतागत स्मृतियों का प्रोटेक्ट की शायरी में जैसा विन्यास किया है, मेरी समझ से विश्व-कविता में वैसा कम संभव हो पाया है। उदाहरण के लिए शहादत के तमाम मार्मिक दृश्य और ज़ब्त शुरू से आखीर तक उनकी शायरी में बार-बार प्रकट होता है- 'महाम फ़ैज़ कोई राह में जंचा ही नहीं, जो कू-ए-यार से निकले तो सू-ए-दार चले।' इस्लामिक इतिहास में कर्बला की शहादत, सूफी परंपरा में मंसूर जैसों की शहादत, काब्य परंपरा में आशिक/माशूक की शहादत या फिर समकालीन दुनिया और उसके युद्धों में क्रांतिकारियों और देशभक्तों की शहादत के प्रसंग एक ही ज्ञानात्मक संवेदन में फ़ैज़ के यहां ढल जाते हैं। फ़ैज़ की प्रतिरोध की शायरी की तमाम विशेषताएं अगर किसी एक कविता में देखनी हो तो हमें 'गुबारे-अय्याम' में संकलित 'तराना-२' (१९८२) सुनना/पढ़ना चाहिए जिसे फ़ैज़ ने जनरल ज़िया-उल-हक़ की सैनिक तानाशाही के जमाने में लिखा। बताया जाता है कि उस समय पाकिस्तान में जनरल ज़िया ने इस्लामीकरण की मुहिम के तहत औरतों के साड़ी पहनने पर रोक लगा रखी थी। कहते हैं कि इस रोक के खिलाफ़ प्रतिरोध के बतौर काली साड़ी पहनकर इकबाल बानो ने एक लाख की भीड़ में इसे गाया। तराना जनगीत है। फ़ैज़ इसे 'जन-प्रतिरोध के गीत' की विधा के बतौर विकसित करते हैं। गीत की रचना प्रक्रिया व्यक्तिगत है। तराना सामूहिक गान है, जो एक समूह की पूर्वकल्पना करता है। इसलिए अपनी रचना-प्रक्रिया के शुरूआती लमहे से ही उसमें सामाजिकता आ जाती है, वह सिंफनी की तरह है जो छेड़ दिए जाने पर अपनी दुनिया खुद रच लेता है। बानो जब इस गीत को गा रही हैं, तो कैसेट में बज रहे गीत के बीच-बीच में श्रोताओं की ओर से उठते दो नारे साफ़ सुने जा सकते हैं- एक नारा है - 'नारा-ए-तकवी, अल्लाहो अकबर' और दूसरा नार है- 'इंकलाब ज़िन्दाबाद'। दोनो घुलमिल गए हैं - ये घुलावट सिर्फ़ नारों में ही नहीं है। शब्दों के बादशाह को मालूम है कि शब्दों, बिम्बों, स्मृतियों का कैसा संयोजन जनता की किन भावनाओं को जगाएगा। दोनों नारे न सिर्फ़ श्रोताओं के प्रतिरोध की भावना का पता देते हैं, बल्कि इस बात का भी कि यह गीत उस जनता के दिलो-दिमाग पर कैसा असर कर रहा है जिसे वह संबोधित है। फ़ैज़ ने इस तराने में इस्लाम, सूफीवाद और वेदान्त के सूत्रों, मान्यताओं और बिम्बों का इस्तेमाल किया है, लेकिन यह तराना न इस्लाम के बारे में है, न सूफीवाद के बारे में और न ही वेदान्त के बारे में। यह तराना जनता की खुद-मुख्तारी, लोकतंत्र और न्याय के लिए एहतिजाज़ या प्रतिरोध के बारे में है। मज़मून (कंटेंट) और मानी (मीनिंग) का यही फर्क है। गज़ब की बात है कि जिस समय

इस्लाम के नाम पर एक तानाशाह जनता के सीने पर चढ़कर जुल्म ढा रहा था उस समय फैज़ ने इस्लाम के भीतर से ही, अवाम की अपनी पारम्परिक स्मृतियों को जगाकर एहतिजाज़, प्रतिरोध पैदा कर दिया। जिस समय में ये तराना लिख गया, उस समय फैज़ ने इस्लाम के भीतर से ही, अवाम की अपनी पारम्परिक स्मृतियों को जगाकर एहतिजाज़, प्रतिरोध पैदा कर दिया। उस समय फैज़ अपनी कीर्ति के शिखर पर थे, साथ ही जिन्दगी के आखिरी मुकाम पर पहुँचे हुए भी। हालत ये थी कि ज़िया-उल-हक़ की भी औकात न थी कि फैज़ को जेल की सलाखों के पीछे बंद कर देते। सन् २००२ में ऐजाज़ अहमद ने एक भाषण में उन दिनों की याद करते हुए कहा-‘उनके दुश्मनों को हमने फैज़ साहब का पैर छूते हुए देखा। फैज़ साहब पहली सफ़ में बैठे हुए थे। पाकिस्तान के डिक्टेटर जनाब ज़ियाउल-हक़ साहब जिनके हुक्म पर फैज़ साहब की शायरी पाकिस्तान के टेलीविज़न पर गायी नहीं जा सकती थी, स्टेज पर थे। उन्होंने देखा कि फैज़ साहब पहली सफ़ में बैठे हैं। वो उतर के आए और फैज़ साहब को सलाम किया, तो उनका एक ख़ास तरह का रूतबा था- अवाम में भी था और अदब के मैदान में भी था... (‘जनमत’ अप्रैल-जून, २००२, वर्ष ३१, अंक २, पृष्ठ ७०)। ‘तराना’ शीर्षक वाले कम से कम तीन तराने फैज़ की सम्पूर्ण शायरी के देवनागरी संस्करण (सारे सुखन हमारे) में मिलते हैं। ‘दस्ते-सबा’ (१९५३) में पहला ‘तराना-२’ संकलित है। ये तीनों ही बेहद मक़बूल हैं। दस्ते-सबा में संकलित ‘तराना’ और गुबारे-अय्याम’ (१९८२) में संकलित ‘तराना-२’ में एक पंक्ति समान है-‘जब तख़्त गिराए जाएंगे, जब ताज उछाले जाएंगे’। १९५३ से लेकर १९८२ तक ये तमन्ना मुसलसल शायर के साथ बनी रहती है। इस एक पंक्ति का दोहराव इन तरानों का मानी और मक़सद भी बयान करता है।

‘गुबारे- अय्याम’ में संकलित ‘तराना-२’ इस प्रकार है-

हम देखेंगे

लाज़िम है के : हम भी देखेंगे

वो: दिन के: जिसका वादा है

जो लौहे-अज़ल में लिखा है

जब जुल्मो-सितम के कोहे-गराँ

रूई की तरह उड़ जायेंगे

हम महकूमों के पाँव-तले

जब धरती धड़-धड़ धड़केगी

और अहले-हिकम के सर ऊपर

जब बिजली कड़कड़ कड़केगी

अब अर्ज़-ए-खुदा के काबे से

सब बुत उठवाये जायेंगे

हम अहले-सफ़ा, मर्दूद-ए-हरम

मसनद पे बिठाये जायेंगे
 सब ताज उछाले जायेंगे
 सब तख्त गिराये जायेंगे
 बस नाम रहेगा अल्लाह का
 जो गायब भी है हाज़िर भी
 जो मंज़र भी हैं, नाज़िर भी
 उट्टेगा 'अनलहक' का नारा
 जो मैं भी हूँ और तुम भी हो
 और राज करेगी ख़ल्के-ख़ुदा

जो मैं भी हूँ और तुम भी हो ('तराना-२', सारे सुखन हमारे, पृष्ठ ३२२)

'देखेंगे' क्रिया इस तराने में टेक की तरह दोहराई जाती है। यहाँ यह क्रिया मुहावरे की तर्ज़ पर प्रयुक्त है। 'देखेंगे' या 'देख लेंगे' सामान्य हिंदी भाषा का मुहावरा है जिस का प्रयोग चुनौती देने या कबूल करने के अर्थ में होता है। धर्माधारित राज्य-व्यवस्था वैचारिक तौर-तरीकों से भी जनता को वश में करती है। धार्मिक मान्यताएं ऐसा ही हथियार हैं। सबके भाग्य के अंतिम फैसले का दिन एक इस्लामिक संकल्पना है। ज़ाहिर है कि इस 'अंतिम फैसले' या 'भाग्य में लिखे' का उपयोग लोगों को धर्म का भय दिखाकर भाग्यवादी बने रहने को विवश बनाने में होता है। इस तराने में 'देखेंगे' का अभिप्राय फैसले की इसी आखिरी घड़ी या 'भाग्य में लिखे' का सामना करना है। अगर इस दिन इंसाफ होना है, तो वह सिर्फ जनता का ही नहीं, हुक्मरानों का भी होगा। अगर सबके अच्छे-बुरे कर्मों का इंसाफ होना है, तो फिर उस दिन से शासकों को डरना चाहिए, जनता को नहीं। इसीलिए ये चुनौती हम (जनता) को कुबूल है। 'हम देखेंगे/लाज़िम है के: हम भी देखेंगे', एक तरह की हुंकार है जहाँ अंतिम फैसले के दिन के भय का स्थान उस दिन के लिए तैयारी ने ले लिया है। आप (हुक्मरान) ही नहीं, बल्कि हम (जनता) भी इस दिन के लिए तैयार हैं। यहीं से 'अंतिम फैसले' की संकल्पना का अर्थांतरण शुरू होता है। वह धार्मिक दायरे से बाहर सामाजिक-राजनैतिक हक और इंसाफ का अर्थ ध्वनित करने लगती है। 'अंतिम फैसले' की संकल्पना के शासकवर्गीय भाष्य और उपयोग को यह तराना उनके ही खिलाफ शब्द-दर-शब्द, पंक्ति-दर-पंक्ति पलटना शुरू करता है। प्रतिरोधी विचारों और बिम्बों की एक लड़ी तैयार होती चली जाती है। जुल्मो-सितम के पहाड़ों का रुई की तरह उड़ जाने के बिम्ब का स्रोत इस्लामिक पाठ है और फ़ैज़ साहब की विचारधारा इस्लाम नहीं थी। वो तो कम्युनिस्ट थे। जुल्म के विनाश के इस बिम्ब के समानांतर याद आती है प्राचीन काल में चीन में प्रचलित एक नीतिकथा जिसे माओ ज़ेडॉंग चीन के किसानों को सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सतत संघर्ष का महत्व समझाने के लिए सुनाया करते थे। इस नीतिकथा का शीर्षक है 'एक मूर्ख बूढ़ा आदमी, जिसने पहाड़ों को हटा दिया।' इस नीतिकथा में पुराने ज़माने के एक बूढ़े आदमी का वर्णन किया गया है, जो उत्तरी चीन

में रहता था। उसके घर का दरवाजा दक्षिण की ओर था, जिसके सामने दो बड़े पहाड़ खड़े थे, जो उसके रास्ते में बाधा पहुंचाते थे। उसने अपने बेटों को बुलाया और उन्होंने हाथ में फावड़ा लेकर दृढ़ निश्चय के साथ उन दोनों पहाड़ों को खोदना शुरू कर दिया। एक दूसरा बूढ़ा आदमी जो 'बुद्धिमान बूढ़ा आदमी' कहलाता था, उन्हें देखकर खिल्ली उड़ाते हुए बोला 'तुम लोग कितने मूर्ख हो, जो यह सब कर रहे हो! इन दो बड़े पहाड़ों को खोद डालना तुम बाप-बेटों के लिए बिलकुल असम्भव है।' मूर्ख बूढ़े आदमी ने उत्तर दिया: 'मेरी मृत्यु के बाद मेरे बेटे यह काम जारी रखेंगे, बेटों के बाद पोते और पोते के बाद परपोते, इसी प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसे जारी रखेंगे। हालांकि ये पहाड़ बहुत ऊंचे हैं, परन्तु इससे ज्यादा ऊंचे तो ये हो नहीं सकते, और हम इन्हें जितना खोदते जायेंगे ये उतने ही छोटे होते जाएंगे। फिर हम इन्हें क्यों नहीं हटा सकते?' बुद्धिमान बूढ़े आदमी के गलत विचार का खण्डन करने के बाद, उसने उन पहाड़ों को खोदना जारी रखा और अपने विश्वास में जरा भी ढील नहीं आने दी। इससे भगवान बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने दो देवदूतों को भेजा, जो इन दोनों पहाड़ों को अपनी पीठ पर उठा ले गए। माओ किसानों से कहते थे, 'आज चीनी जनता के ऊपर भी दो अत्यन्त भारी बड़े-बड़े पहाड़ मौजूद हैं। इनमें एक का नाम साम्राज्यवाद है और दूसरे का सामन्तवाद।' पाकिस्तान, हिन्दुस्तान और बांग्लादेश के लिए भी जुल्मो-सितम के कोहे-गरो-सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के अलावा और भला क्या है? इन्हें रूई की तरह उड़ा देना ही क्रांति का स्वप्न है। हमारे लोगों की जम्हूरी क्रांति का स्वप्न। 'तराना-२' में जुल्मो-सितम के पहाड़ों का रूई की तरह उड़ जाने के बिम्ब और माओ द्वारा सुनाई जाने वाली इस कथा में महज इतना साम्य ही नहीं है कि दोनों जगह जुल्म, शोषण या सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के प्रतीक पहाड़ हैं और उनका उड़ जाना है क्रांति की विजय। ज्यादा महत्वपूर्ण साम्य यह है कि फ़ैज़ और माओ दोनों मार्क्सवादी हैं और दोनों को ही परम्परा से प्रतिरोध की ताकत और प्रतीक ग्रहण करने से कोई गुरेज़ नहीं और परम्परा के ये तत्व धार्मिक या मिथकीय भी हो सकते हैं जिनका इहलौकीकरण उन्हें बरतने वाले की सलाहियत पर निर्भर करता है। फ़ैज़ मार्क्सवादी इतिहास-दृष्टि में प्रशिक्षित होने के चलते ही प्रतिरोध के जज़्बे को उन अनेक परम्पराओं से ग्रहण करते हैं, जिनमें जनता इतिहासतः रही आई है और क़ौम के रूप में विकसित हुई है। माओ जब मूर्ख बूढ़े की कहानी सुनाते हैं, तो वे भी चीन की लो-परम्परा से वैसा ही संबंध स्थापित करते हैं जैसा कि फ़ैज़ इस तराने में इस्लाम के साथ। फ़ैज़ की इतिहास-दृष्टि में यह बात साफ है कि इस्लाम महज आस्था का विषय नहीं है, बल्कि उसका एक इतिहास भी है, वह जीवन और चिन्तन की एक पद्धति भी है। दूसरे, उनके कवि के सामने एक ऐसे देश में धर्माधारित राज्यसत्ता के अत्याचारों के खिलाफ, जम्हूरियत और बराबरी के लिए संघर्ष को जमाने की कठिन चुनौती थी, जो इस्लाम के नाम पर ही वजूद में लाया गया और उसी के नाम पर जिसपर शासन किया जाता रहा। मिलती-जुलती परिस्थितियां तीसरी दुनिया के तमाम देशों में है, लेकिन उन सब देशों को फ़ैज़ जैसे विलक्षण अदीब

और विचारक न मिल सके। 'तराना-२' इस बात का बेहतरीन उदाहरण है कि जहाँ राजनीति, इतिहास और समाज की प्रदत्त स्थितियाँ, रचनाशीलता के सामने अभूतपूर्व अवरोध उत्पन्न कर रही हों, जहाँ आप के हाथ इस कदर बँधे हों, वहाँ प्रतिरोध की कला कैसे विकसित की जाए। इस तराने में 'झूठे देवताओं' (बुतों) के विरुद्ध इस्लाम के ऐतिहासिक संघर्ष की दृश्यावली को काबे से उठाकर जन-क्रांति के उत्सव की उल्लासमयी कल्पना में इस सलीके से स्थानांतरित कर दिया गया है कि पूरा दृश्य-विधान हुक्मरानों को उखाड़ फेंकने और जनता की खुद-मुख्तारी का रूपक बन जाता है। (प्रसंगवश ये याद आना स्वाभाविक है कि पाकिस्तान में इस्लाम और खुदा के नाम पर तानाशाहों द्वारा खुदा की तरह सर्वशक्तिमान बन बैठना एक ऐसा यथार्थ है, जिसके खिलाफ पाकिस्तान के कई समकालीन कवि प्रतीकों में पलटवार करते हैं। जिया के शासन के खिलाफ हबीब जालिब की मशहूर पंक्ति है- 'जुल्मत को ज़िया, सरसर को सबा, बंदे को खुदा क्या लिखना'। यहां तक कि आपाततः गैर-राजनीतिक शायरी में भी ऐसे बिम्ब आ ही जाते हैं। खातिर का मशहूर शेर है - 'बंदे भी हो गए हैं खुदा, तेरे शहर में'। या फिर शहज़ाद कहते हैं- 'मैंने जो संग तराशा, वो खुदा हो बैठा'। कौन कह सकता है भला, कि इश्क के प्रसंग में ही सही, ये शेर लिखते वक्त शायर के अवचेतन में वह परिस्थिति नहीं काम कर रही है, जिसमें बुत (तानाशाह) ही खुदा बन बैठे हैं? 'तराना-२' में दृश्य-विधान की ताकत और उसका संदर्भ सफलतापूर्वक बुतों को तानाशाही निज़ाम के प्रतीक में बदल देता है। एक ही सांस, एक ही लय-ताल में जब काबे से बुत उठवाए जाने और तख्त-ओ-ताज गिराए जाने का दृश्य खड़ा होता है, तो किसी भी सामान्य पाठक या श्रोता को कोई संदेह नहीं रह जाता, कि ये बुत कौन हैं। वे वही हैं, जो इस्लाम के नाम पर झूठे खुदा बन तानाशाही कर रहे हैं। अंतिम फैसले का दिन जन-क्रांति का दिन होगा जब वे ज़मींदोज़ किए जाएंगे और जनता का राज होगा-

जब अर्ज़-ए-खुदा के का'बे से
सब बुत उठवाये जायेंगे
हम अह्ले-सफ़ा, मर्दूद-ए-हरम
मसनद पे बिठाये जायेंगे
सब तख़्त गिराये जायेंगे

बड़ी खूबसूरती से शायर शासक वर्गों के तमाम प्रतीक छीन लेता है और उनका अर्थांतरण करके उन्हीं पर उछाल देता है। यही है पलटवार। लौहे-अज़ल, खुदा, बुत, काबा सबके अर्थ जनता की इच्छाओं से जुड़कर बदल जाते हैं। कवि-कल्पना की रासायनिक क्रिया परम्परित प्रतीकों का कायाकल्प कर देती है। इस्लाम की पारंपरिक स्मृतियाँ और तानाशाही के खिलाफ प्रतिरोध, दोनों के बीच कविता में कहीं कोई जोड़ या पैबन्द नहीं है। उस प्रतिरोध से अधिक मारक और क्या होगा जो भीतर (यहाँ इस्लाम) से आए। काव्य की प्रक्रिया में परम्परा का इहलौकीकरण और समकालीनीकरण एक साथ होता है।

लेकिन शायर के लिए पारम्परिक इस्लाम के अलावा भी ऐसी परम्पराएं हैं, जो उसी जनता की हैं, जिन्हें यह तराना संबोधित है। आखिरी पंक्तियों में शायर सूफीवाद और वेदान्त के प्रतीकों, सूत्रों की ओर मुड़ता है- जम्हूरियत, मानवतावाद और कट्टरपंथ की मुखालिफत को संपोषण और दीर्घजीविता प्रदान करने के लिए वह प्रतिरोध की पूरी अवधारणा को उपमहाद्वीप की साझा सांस्कृतिक स्मृतियों से गुज़ार लाता है। तराना के आखिरी बन्द की शुरुआत होती है इस पंक्ति से- 'बस नाम रहेगा अल्लाह का' का। इस पंक्ति का पाठ बड़ी सावधानी की मांग करता है। अगर हम इस पंक्ति को पढ़ते वक्त जोर 'नाम' शब्द पर दें, तो इसका अर्थ होगा कि राजनीतिक सहित तमाम दुनियाबी मसलों में अल्लाह का नाम मात्र रहेगा, जबकि इस दुनिया को चलाएंगे इंसान ही (और राज करेगी ख़ल्के-ख़ुदा)। इस तरह से पाठ करना इस्लाम के खिलाफ भी नहीं था। अल्लामा इकबाल ने यूरोपीय रिनैसां को इस्लाम के योगदान पर विचार करते हुए फरमाया था कि इस्लाम वो पहला मज़हब था जिसने मानववाद को जन्म दिया क्योंकि पैगम्बर मुहम्मद अंतिम पैगम्बर माने गए, जिनके बाद इंसानों के लिए किसी ईश्वरीय संदेश की कोई ज़रूरत इस्लाम में नहीं समझी गई। ज़ाहिर है कि माना यह गया कि अंतिम मसल में अल्लाह के प्राधिकार की हर क्षण दुहाई देने की ज़रूरत न होगी। इस पंक्ति का दूसरा पाइ इस तरह हो सकता है कि हम 'बस' शब्द पर जोर दें और तब इसका अर्थ ये होगा के सिर्फ अल्लाह का ही नाम रहेगा (ला इलाह इल्लल्लाह) यानी झूठे खुदाओं का नाम ही रहेगा। ध्वनित यही है कि उसके नाम पर किसी और को राज करने की छूट न होगी। दोनों में से कोई भी पाठ करिए, वह धार्मिक तानाशाही के खिलाफ जाता है। इस एक पंक्ति के बाद अल्लाह की जो विशेषताएं बताई गईं उनका संबंध क्लासिकल इस्लाम से उतना नहीं, जितना सूफीवाद और वेदांत की रहस्यवादी धारा से है।

रहस्यवादी धाराओं में बन्दे और खुदा का रिश्ता मालिक और खादिम का नहीं, बल्कि आशिक-माशूका का है, सोपानक्रम वरीयता में बंधा हुआ नहीं, बल्कि ज्यादा बराबरी पर आधारित और जम्हूरी है। ऐसे में शायर के लिए भी बराबरी और जम्हूरियत के तसव्वुर को खड़ा करने में यही रिश्ता मुआफिक पड़ता है। खुदा की संकल्पना भी यहां अलग है। सूफियों का खुदा 'गायब भी है, जाहिर भी', (सबसे परे भी है और सबमें व्यापा हुआ भी), वो मंजर भी है, नाजिर भी (वो दृश्य भी है और दर्शक भी)। वह निर्गुण भी है सगुण भी। कुछ लोग सूफियों की विचारधारा को गैर-इस्लामिक मानते हैं, लेकिन हमारी साझा संस्कृति में इस्लाम का यही रूप ढला। क्लासिकल इस्लाम में खुदा सबसे परे (ट्रांसेंडेंट) तो हैं, लेकिन सबमें व्यापा हुआ (इम्मैनेंट) नहीं। लेकिन हमारे उपमहाद्वीप में इस्लाम के ज्यादातर मानने वाले खुदा की उस संकल्पना में दीक्षित हैं, जो सूफियों से आई और वेदांत में भी पाई जाती है। खुदा की कण-कण में व्याप्ति की धारणा सदियों से इंसान और इंसान के बीच खाई, वैमनस्य और विभेद को मिटाने के काम में तमाम रहस्यवादियों संतों-सूफियों द्वारा लाई गई। फ़ैज़ के देश-काल में भी इसके ऐसे उपयोग की संभावना

चुकी नहीं थी। 'तराना-२' में जब आखिरी पंक्तियों में 'अनलहक' का नारा गूँजता है, तो जनता की खुदमुख्तारी का दृश्य खड़ा करता है। 'अनलहक' का नारा महान सूफ़ी संत हजरत मंसूर का था, जिनके पैर इस उपमहाद्वीप की धरती पर भी पड़े थे- गुजरात और सिंध में। 'अनलहक' का वही मतलब है जो वेदांत के सूत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' का, अर्थात् 'मैं ही सत्य हूँ' या 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। तराने की आखिरी पंक्तियाँ हैं-

उठेगा 'अनलहक' का नारा
जो मैं भी हूँ और तुम भी हो
और राज करेगी खल्के-खुदा
जो मैं भी हूँ और तुम भी हो

'जो मैं भी हूँ और तुम भी हो' का वेदांती सूत्र में अनुवाद करें तो अर्थ है- 'सर्व खलु इदं ब्रह्मम्'- यानि सभी ब्रह्म हैं- फिर कौन छोटा, कौन बड़ा, कौन शासक, कौन शासित? सारे ही लोगों का इसीलिए राज होगा, उस अंतिम फैसले के दिन। तराने की हर पंक्ति अपने पारम्परिक आध्यात्मिक अर्थ से खिसक कर बिलकुल समकालिक दुनियावी अर्थ देने लगती है। इसी प्रक्रिया में पूरी कविता पाकिस्तान की समकालीन परिस्थितियों में जनता की खुद-मुख्तारी, लोकतंत्र और न्याय की ज़बरदस्त चाहत का तराना बन गई। कविता जिस अवाम, और जिन स्थितियों से संवाद कर रही है- वे इसमें एक दूसरा मानी भर रही हैं। यहां 'अनलहक' का यहां मतलब है 'प्रतिरोध', 'एहतिजाज़', 'प्रोटेस्ट'। तराने का मज़मून बना आध्यात्मिक रिवायतों से, लेकिन मानी निकला बिलकुल दुनियावी और समकालीन। क्या यह चमत्कार बगैर विचारधारा के हुआ? इस कविता की विचारधारा क्या है? क्या ये कविता इस्लाम के बारे में है? क्या इसकी विचारधारा सूफ़ीवाद है या वेदांत है? इस कविता की विचारधारा वही है जिसे फ़ैज़ ने जनता को बेइंतेहा प्यार करने, जेल की लम्बी तनहा रातों में अपने समाज और अपने इतिहास की घनघोर उदासी के बीच हासिल की थी- मार्क्स और भगत सिंह के शब्दों में 'मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के सभी रूपों का अंत'। 'मज़मून' और 'मानी' का यही बारीक फर्क है।

फ़ैज़ साहब ने प्रोटेस्ट के कई दूसरे महान शायरों जैसे कि ब्रेख्त, हबीब जालिब या नागार्जुन की तरह व्यंग्य का मारक प्रयोग नहीं किया है, इसका सम्बन्ध शायद उनके मिजाज से भी है। फ़ैज़ के यहाँ एहतिजाज सिर्फ उद्बोधन और आह्वान में प्रकट नहीं होता, वह इंसानी संघर्ष की सारी ही जटिलताओं से गुजरकर आता है। उन्होंने प्रोटेस्ट की शायरी के कामनसेन्स को बदला है। इन संघर्षों की राह में आनेवाली बाधाओं, घिसाव-थकाव की लम्बी चलनेवाली लड़ाइयों में आनेवाली उदासी, उम्मीद-नाउम्मीदी के आरोह-अवरोह में झूलती जन-चेतना, छोटी-छोटी जीतों पर अछोर खुशियों में डूब जाने की फितरत से उनकी शायरी खूब वाकिफ है, इसीलिए उनकी शायरी ने जश्न भी मनाए, मातम भी, अवसाद से ग्रस्त भी हुई, लेकिन उम्मीद का दामन नहीं छोड़ा, कभी उसने ढाढस बंधाया, कभी जोश और हिम्मत को ललकारा, कभी आंसू बहाए, तो कभी पुचकारा, कभी दुआ में हाथ

उठाए तो कभी इंतज़ार की लम्बी घड़ियां काटीं, कभी तख्तो-ताज गिराए तो कभी रुककर आत्मावलोकन किया, कभी बेअंत सी लगनेवाली तन्हाई झेली तो कभी मुहब्बत और कृदरत की गहराइयों में डूबकर हस्ती के सरो-सामां जुटाए। उनकी शायरी ऐहतिजाज की एक शम्मः है, जो हर रंग में जलती रहेगी, सहर होने तक।

लेखकों के पते

रामशरण जोशी, प्रोफेसर, संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मोबाइल: 9405527196

कमल नयन काबरा, 202, आनंद लोक सोसाइटी, मयूर बिहार, फेज-1, दिल्ली-91
फोन: 11-22792630, ईमेल- kamalnkabra@yahoo.co.in

हरिराम मीणा, 31, शिवशक्ति नगर, क्वीन्स रोड, अजमेर हाईव, जयपुर-302019
मोबाइल: 9414124101, ईमेल-hrmbms@yahoo.co.in

पुष्पराज, द्वारा- प्रगतिशील साहित्य सदन, निकट-पटना दूरशिक्षा निदेशालय, अशोक राजपथ, पटना-06 मोबाइल : 09431862080
ईमेल-kalammazdoor@gmail.com

प्रशांत खत्री, सहायक प्रोफेसर, मानवविज्ञान विभाग, संस्कृति विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मोबाइल : 09503430385

राम पुनियानी, 1102, बिल्डिंग नम्बर-5, म्हाड़ा, डीलक्स, रामबाग, पवई, मुम्बई-76
ईमेल-ram.puniyani@gmail.com

मानस रंजन, एक्शन ऐड, हौजखास एन्क्लेव, नई दिल्ली-110016
ईमेल-smanasr@gmail.com

संदीप पाण्डेय, ए-893, इंदिरा नगर, लखनऊ-226016 फोन: 0522-2347365
ईमेल-ashaashram@yahoo.com

नदीम हसनैन, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, मानवविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, मोबाइल: 09721533337, ईमेल-nadeemhasnain@gmail.com

सुरेश शर्मा, राइटर इन रेजिडेंस तथा प्रभारी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा

गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मोबाइल : 09968037642

पवन करण, 'सावित्री' आई-10 साईट नं-1, सिटी सेंटर, ग्वालियर-474002 (म.प्र.)
दूरभाष- 0751-2234430 (निवास), मोबाइल : 09425109430

अर्पण कुमार, प्रबंधक (राजभाषा), स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर, अंचल
कार्यालय, सी-54, सरोजनी मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302005 (राजस्थान) मोबाइल:
08511009712, ईमेल- arpankumarr@gmail.com

एस.आर. हरनोट, ओम भवन, ऊपरी मंजिल, मोरले बैंक इस्टेट, निगम विहार,
शिमला-171002 हि.प्र., मोबाइल : 09816566611

राजेन्द्र शर्मा, एम-24 निराला नगर, दुष्यंत मार्ग, भदभदा रोड, भोपाल-462003
मोबाइल: 9425392954, ईमेल-rajendra.sharma48@yahoo.com

अली अहमद फ़ातमी, प्रोफेसर, उर्दू विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
(उ.प्र.) मोबाइल : 09335069526

प्रणय कृष्ण, टी-10, पंचपुष्प अपार्टमेंट, अशोकनगर, इलाहाबाद-211001

शाहनवाज़ आलम, 156, बसीयाबाद, नुरुल्लाह रोड, इलाहाबाद-211003 मोबाइल :
0995652949

पी.के. मंगलम, शोधार्थी, स्पेनिश भाषा विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

शंभू जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मोबाइल: 09970865987